

# चेतना का विकास



**मनुष्य** और जगत् के बीच परिपूर्ण सम्बन्ध है। मनुष्य केवल अन्तर्मुखी नहीं रह सकता। वह केवल बहिर्मुखी होकर भी चैन से नहीं जी सकता। जीवन की पूर्णता किसी से टूटने में नहीं, सबसे जुड़ने में है—स्वयं से भी, जगत् से भी। मनुष्य तो देहरी का दीप है, जिसे अन्तर्जगत को भी प्रकाशित रखना है और बहिर्जगत् को भी। भीतर-बाहर का द्वैत भी क्यों, सम्पूर्ण जगत् को ही प्रकाशित करना है। आखिर जगत् उसी की तो प्रतिध्वनि है।



# चेतना का विकास

श्री  
चन्द्रप्रभ



सान्निध्य  
गणिवर महिमाप्रभ सागर

सम्पादन  
श्रीमती लता भंडारी—मीरा

सहयोग  
श्री घेवरचंद गुलाबचंद  
ज्ञानमल सम्पतराज पारख  
जोधपुर/बम्बई

प्रकाशन :  
श्री जितयशा फाउंडेशन,  
९ सी, एस्प्लानेड रो ईस्ट,  
कलकत्ता — ७०० ०६९

मुद्रण :  
राधिका ग्राफिक, इन्दौर  
अनमोल प्रिंटेर्स, जोधपुर

प्रथम संस्करण : जनवरी, १९९४  
मूल्य : बारह रुपये

# 1

## अमृत की अभीप्सा

मेरे प्रिय आत्मन्!

**आप** सभी अमृत साधकों से मुझे आत्मिक प्रेम है। मात्र दो-तीन दिनों की अल्प-सूचना से भी यहाँ ध्यान के लिए जितना बड़ा समुदाय एकत्रित है यह इस बात का सबूत है कि आप के दिलों में ध्यान के लिए, ध्यान की ज्योति को आत्मसात् करने के लिए कितनी ललक है। मैं आपकी आत्म-भावनाओं का सम्मान करता हूँ और आप सबके भीतर बैठे प्रभु को प्रणाम करता हूँ।

जब मैं यहाँ नहीं था तब कुछ समर्पित साधकों ने, अहोभाव जनित अमृत मूर्तियों ने ध्यान-सत्र जारी रखा। यह उनका प्रेम है, समर्पण है। अन्तरात्मा में उन सभी अमृत साधकों के प्रति प्यार भरा स्थान है।

ध्यान-शिविर के उद्घाटन एवं ग्रन्थ विमोचन के अवसर पर आपने मुख्यमंत्री, उपमुख्यमंत्री एवं अन्य प्रबुद्ध तथा वरिष्ठ लोगों को आमन्त्रित किया और एक प्रतिष्ठापूर्ण समारोह सम्पन्न किया। निलयम् (श्री चन्द्रप्रभ ध्यान निलयम्) की इससे प्रतिष्ठा बढ़ी है, उससे भी ज्यादा अर्थपूर्ण यह है कि आप जैसे

चेतना का विकास : श्री चन्द्रप्रभ/9

अमृत साधकों के बीच उन हस्तियों को बैठने का मौका मिला। राहगीर को तरुवर की जितनी देर के लिए छाया मिले, राहगीर के लिए उतना ही सुखद है। राहगीरों को शीतल छाया देकर तरुवर उतना ही गौरवान्वित होता है। अमृत का साहचर्य जितनी देर मिले, उतना ही सौभाग्य!

यह एक सुखद संयोग है कि आप सबके मन में चेतना के विकास की, जीवन के अमृत की अभीप्सा है। बहुत सारे लोग तो ऐसे होते हैं, जिनके लिए न तो जीवन का कोई अर्थ होता है और न ही जीवन को अमृत बनाने की कोई उत्कंठा। ऐसे लोगों की बनिस्पत आपका दर्जा ऊँचा है। अमृत हो जाना और अमृत पा लेना तो एक महान बात है ही। अभीप्सा और उत्कंठा जग जाना भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। अभीप्सा तो अमृत-मार्ग का प्रवेश-द्वार है। अगर शुरुआत अभीप्सापूर्ण हो तो अंतस् प्रवेश में बड़ी सुविधा रहती है।

ध्यान-शिविर अपनी आत्म-क्षमताओं को चुनौती नहीं है, वरन् आत्म-क्षमताओं को जगाने का एक मंगल अभियान है। शिविर में शामिल होने वाले लोग, न भीड़ हैं, न भेड़ धसान हैं। यह तो भीड़ से बाहर आकर कुछ करने की सक्रियता भर है।

मनुष्य में इतनी महान क्षमताएँ हैं मगर खेद इसी बात का है कि आदमी को अपनी ही क्षमताओं का कोई बोध और परिचय नहीं है। ध्यान स्वयं का परिचय-पत्र है। स्वयं को भीतर से जानने की, देखने की, अपने-आप से परिचित होने की एक सजग दृष्टि है। तुमने कभी यह सोचा कि जिस बीज को हम एक मामूली-सा बीज समझते हैं, उस अकेले बीज में कितनी महान क्षमताएँ हैं। एक बीज से पूरा एक बरगद खिलता है, मगर उस एक बरगद से लाखों बीज पैदा हो जाते हैं। यानी सारा जंगल, एक बीज से बरगदों से भर सकता है।

मनुष्य भी एक बीज है पर वह बीज से भी बढ़कर है। बीज तो केवल बरगद ही पैदा कर सकता है, पर मनुष्य तो मनुष्य के अलावा और भी बहुत कुछ पैदा करने की गुंजाइश रखता है। मनुष्य की चेतना अगर अंकुरित हो जाए, तो उसका यह अंकुरण ही स्वयं में परमात्मा का जन्म है।

हम लोग ध्यान में प्रवेश करें उससे पहले कम-से-कम इतना जरूर पड़ताल लें कि हमारे मन में अन्तस् प्रवेश की कोई भावना, कोई अभीप्सा है या नहीं है। अभीप्सा जितनी गहरी होगी, ध्यान में उतनी ही गहराई आएगी। कमजोर अभीप्सा को लेकर भीतर में सुदृढ़ स्तंभों का निर्माण नहीं किया जा सकता। भीतर सोई चैतन्य-ऊर्जा का जागरण नहीं किया जा सकता। प्यास हो तो ही पानी का मूल्य

अमृत की अभीप्सा/२

है। प्यास हो, तो ही पानी, पानी है। प्यास हो तो परितृप्ति के लिए प्रयास हो सकेंगे। अगर प्यास हो तो उसे निश्चित तौर पर परितृप्त कर लेना चाहिए। प्यासे मरने की बजाय, परितृप्त होकर मरना ज्यादा अच्छा है। मुझे खुशी है कि हममें वह प्यास है, वह ज्योत है।

आप सब यहाँ आए हैं। बूंद-बूंद ही सही, चिंगारी-चिंगारी ही सही पर कम-से-कम चिंगारी तो जल रही है। लोगों को यह नहीं पता है जिसे आज वे चिंगारी समझते हैं, यही तो वह चिंगारी है जो दीप को ज्योतिर्मय कर देगी। आज तक जितने भी अमृत-पुरुष हुए, चैतन्यमनीषी हुए, निश्चित रूप से वे सभी हमारे जैसे ही थे। जब तक कोई भी साधक यह नहीं स्वीकार करेगा कि महावीर भी मेरे जैसे ही थे, तब तक महावीर को उपलब्ध नहीं कर पाएगा। बुद्ध की सम्बोधि आत्मसात् नहीं कर पाएगा। एक बात हमेशा याद रखो कि तुम्हारा जन्म परमात्मा की पूजा के लिए नहीं वरन् स्वयं परमात्मा होने के लिए हुआ है। तुम्हें जीवन इसलिए नहीं मिला है कि महावीर की पूजा ही करते रहो, तुम जैन इसलिए हो कि तुम्हें भी 'जिन' होना है।

जीवन का कल्याण महावीर, राम, ईसा या मुहम्मद के नारों से या समारोहों से नहीं होता है। जीवन का कल्याण स्वयं को समारोह बनाने से होता है। तुम्हारी महानता राम या महावीर को पूजने से नहीं, स्वयं राम और महावीर होने से है। तुम रामायण को एक क्या हजार बार भी पढ़ लोगे पर अगर जीवन में न उतार पाए तो बार-बार पढ़ने का क्या अर्थ होगा? वह अलग रास्ता दिखाएगी और तुम दूसरे रास्ते पर चले जाओगे। रामायण में भी दो ही बातें महत्वपूर्ण हैं — पहली यह कि भगवान पद को प्राप्त करने वाले लोग भी नकली मृग के पीछे, मृग-तृष्णा के पीछे भागते हैं और दूसरी यह कि नारी लक्ष्मण-रेखा का उल्लंघन करती है तो रावण द्वारा अपहृत होती है। चूक हमसे यही होती है कि हम कहते हैं भगवान नकली हिरण के पीछे दौड़े; नहीं, एक इन्सान नकली हिरण के पीछे दौड़ा और एक महिला जिसने लक्ष्मण-रेखा का उल्लंघन किया। नकली हिरण के पीछे राम दौड़े, पत्नी को खो बैठे। पत्नी ने लक्ष्मण-रेखा का अतिक्रमण किया, उसे दुश्मन की सेना में रहना पड़ा और राम-रावण का युद्ध हुआ। नकली हिरण के पीछे दौड़ने वाला राम, भगवान नहीं है, वह सिर्फ एक इन्सान है। पुरुष मृग-तृष्णा से बचे और नारी मर्यादा के अतिक्रमण से।

जैन कहते हैं महावीर में इतनी ताकत थी कि अंगूठे का स्पर्श किया और पूरा पहाड़ हिल गया। सर्प ने डंक मारा, और महावीर के शरीर से दूध निकल

चेतना का विकास : श्री चन्द्रप्रभ/३

आया। हाथियों ने उन्हें उठाया, जमीन पर पटका, पांवों से रौंदा पर उनकी ऐसी महान वज्र-काया थी कि उन्हें कुछ भी न हुआ। यह भक्ति की एक अतिशय दृष्टि है। हमारी भक्ति ने इन अमृत-पुरुषों को वह रूप दे दिया है जिससे हमें लगता है कि हम कभी महावीर नहीं हो सकते, राम नहीं हो सकते। इसलिए हम जीवन भर राम और महावीर को पूजते जाते हैं। लेकिन एक बात जिसे मैं अपने भीतर खुद जीता हूँ वह यह है कि मैं पूजा के लिए पैदा नहीं हुआ। मैं परमात्मा को प्रणाम करता हूँ इसलिए कि मेरे भीतर भी परमात्मा है। हमें भी वही होना है। मनुष्य का जन्म पूजा के लिए नहीं, चेतना के सम्पूर्ण विकास के लिए है, मनुष्य मुक्ति के लिए है।

आपकी साधना तभी आगे बढ़ेगी, जब आप यह सोचेंगे कि महावीर का शरीर भी मेरे जैसा ही हाड़-मांस, अस्थि-मज्जा-रुधिर का ही बना हुआ था। वह भी मां के गर्भ से पैदा हुए थे और स्त्री-गर्भ से उत्पन्न कभी वज्र-काया वाला नहीं हो सकता। कहते हैं ईसा-मसीह कुंआरी स्त्री के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। यह सब अतिशयोक्तियाँ हैं। हम इतने महान पुरुषों को क्यों ऐसी छोटी-छोटी बाहरी बातों के साथ जोड़ रहे हैं और उन्हें बाह्य दृष्टि से महान बना रहे हैं।

महावीर की महानता इसलिए नहीं है कि उनका समवसरण रचता था और देवी-देवता आते थे बल्कि वे खुद में जीकर महावीरत्व को, महानता को उपलब्ध हुए। अगर महावीर की जीवन-चर्या को देखो तो शायद कुछ घटित हो सके। सिद्धान्तों को पढ़ने-सुनने मात्र से क्या होगा? शहर में तो इतने बड़े स्वाध्यायी लोग हैं, इतने धुरंधर पंडित हैं कि उन्हें ज्ञान देने की जरूरत नहीं है। पर मुझे नहीं लगता कि दीप तो बहुत दूर की बात है कोई चिंगारी भी हो। हां, चिंगारियाँ हैं, आग है मगर वह आग ध्यान की आग नहीं है, प्रेम की ज्योति नहीं है। वह, वह घृणा, द्वेष, वैमनस्य और एक-दूसरे को काटने-पछाड़ने की है। आग दियासलाई की ऐसी आग है जिसका काम दूसरे के घरों को जलाना है। वे चाहते तो उस दियासलाई से रोशनी कर सकते थे, खुद का और औरों का अंधकार दूर कर सकते थे। पर वे सिर्फ आग लगा रहे हैं। वे नहीं जानते कि घर के चिराग से, वे औरों के नहीं अपने ही घर में आग लगा रहे हैं।

प्रकाश उनके लिए है जिनके पास कोई आंख है। जिनके पास आंख ही नहीं, उनके लिए हर प्रकाश अंधकार है। दोष प्रकाश का नहीं, दोष हमारी उस अन्तरदृष्टि का है जिसमें प्रकाश को पहचानने की कोई तहजीब ही नहीं। आज भी महावीर हो सकते हैं, हुआ जा सकता है निश्चित ही। मैं आपको बार-बार



प्रभु इसलिए कहता हूँ कि सुनकर ही आपको याद आ जाए कि मेरे भीतर भी वह है। सोहं — मैं वह हूँ। शिवोऽहं - मैं शिव हूँ।

मैंने अपने भीतर उसे देखा है, अस्तित्व का वह परम आनंद चखा है, घूंघरू भीतर थिरके हैं। इसलिए जब आपको देखता हूँ तो आपका रूप-रंग, शारीरिक बनावट या वस्त्राभूषण नहीं देखता। मुझे तो यही दिखाई दे रहा है कि मेरे भीतर जो तत्त्व, जो आन्तरिक शून्य, जो आन्तरिक आनन्द घटित हो रहा है, वही आपके भीतर भी है। जैसे-जैसे मनुष्य के अज्ञान की पर्तें हटती चली जाती हैं, आन्तरिक शून्य घटित होता रहता है, व्यक्ति भीतर के आनन्द से उल्लसित, उत्सवित होता रहता है।

ऐसा मत समझिए कि मैं आपको कोई सिद्धांत देना चाहता हूँ। मैं तो इस बात का खोजी हूँ कि अपने जीवन में शांति और आनन्द कैसे घटित किया जा सकता है। अपनी आत्मा के आनन्द को, अपने सहजानन्द को कैसे घटित किया जा सकता है। आनन्द हमेशा सत्य होता है। इसलिए जो व्यक्ति आनन्द का खोजी है अपने आप सत्य उसका सहचर हो जाता है। वह सत्यम् शिवम् सुन्दरम् से आन्दोलित हो जाता है। मैं तो सिर्फ माली हूँ। आपकी महानता है कि आप मुझे बहुत कुछ मानते हैं। मैं तो वह माली हूँ जो जानता है कि बागान कैसे लगाए जाते हैं, बीज में से कैसे बरगद निकाले जा सकते हैं, कैसे फूलों को खिलाया जा सकता है। मन का मुनि, मानवता का माली।

आप मुझे मुनि/महात्मा कहें, सद्गुरु या प्रभुश्री कहें जो जी भाए, कहें, सब आपकी इच्छा। मैं तो बस .....! स्वयं की अनुभूतियों ने मुझे सिखाया है कि कैसे फूल खिल जाता है, कैसे भीतर की ज्योति जाग्रत हो जाती है, कैसे चेतना का विकास और ऊर्ध्वारोहण हो जाता है और किस तरीके से आदमी मधुर मुस्काते, हंसते-खिलते, सबके साथ मिलते हुए भी कितना अधिक स्वयं के प्रति अप्रमत्त, जाग्रत और जागरूक रह सकता है। अपने चित्त के प्रति, अपने आपके प्रति कैसे तन्मय, शांत और सावचेत रह सकता है।

कुछ बीज जो यहाँ आए हैं, समर्पित हुए हैं यह आपका सौभाग्य है। जब बीज टूटने को तैयार है तो अनिवार्यतः उसमें से अंकुरण होगा। जब तक बीज स्वयं को बीज बनाए रखना चाहेगा वह राम, महावीर और बुद्ध की महानताओं को, उनके बरगद को, उनके पुष्पों को, उनकी सुरभि को, स्वाद को, रस को, गंध को, पौष्टिकता को कभी भी नहीं छू सकेगा। बीज मिटे तो ही वृक्ष हो

चेतना का विकास : श्री चन्द्रप्रभ/५

पाएगा। बूंद सागर में गिरने को तैयार हो तभी वह सागर हो पाएगी। बूंद, कभी बूंद नहीं रह सकती। वह गिरेगी चाहे धूल में गिरे और मिट जाए, गर्म पत्थर या लोहे पर गिरकर भष्म हो जाए, किसी पत्ते पर गिरे और ओस हो जाए, सीप के मुंह में गिरे और मोती हो जाए या सागर में गिरे और विराट सागर हो जाए। बूंद को तो मिटना ही है, जिन्दगी को एक दिन समाप्त होना है, यह तो आपके दृष्टिकोण पर निर्भर है कि आप उस बूंद (जीवन) का कैसा उपयोग करना चाहते हैं। खुद क्या होना चाहते हैं।

अपने आप को क्या बनाना चाहते हैं? धूलिसात् होना चाहते हैं, जहर युक्त बनना चाहते हैं, अस्तित्व में मिट जाना चाहते हैं या मोती बनना चाहते हैं, विराट सागर हो जाना चाहते हैं? ध्यान करने से कोई साक्षात् देवी-देवता दिखाई नहीं देते। तुम ही साक्षात् देव होते हो, देवी होते हो। दिव्यता तुममें आती है। भगवान् नहीं आते, भगवत्ता आती है। तुम्हारी ही भगवत्ता! बस, यह समझो एक बरगद निखरता है, बीज में समाया बरगद। इसलिए इस भ्रम में कभी न रहना कि तुम किन्हीं अवतारों का दर्शन कर अपनी सांसारिक कामना की पूर्ति कर लोगे। ऐसा कभी नहीं होगा। ध्यान तो खुद जीवन का आधार है। जीवन के आधार को सुदृढ़ करने का आधार है। ध्यान इसलिए है कि हमारी मौलिक अन्तरदृष्टि खुल जाए। ध्यान के द्वारा आपकी स्वयं की चेतना जाग्रत होगी और आप तांत्रिक-मांत्रिक से छुटकारा पा सकेंगे। उन लोगों के पास जाकर उलझनें नहीं सुलझवानी पड़ेंगी। तुम्हारा विवेक तुम्हें निर्णय करने की क्षमता देगा। ध्यान वह शक्ति, बल व ऊर्जा देता है जिससे हम अपनी समस्याओं का निराकरण करने में खुद सक्षम हो जाते हैं। ध्यान वह समझ है जो समस्याओं को समझने की क्षमता देता है।

ध्यान हमें कोई मंत्र-तंत्र नहीं अपितु वह समझ और विवेक देता है कि हम अपने जीवन में चलने वाले झंझावात का सामना कर सकें। वह कीमिया देता है कि पंडित और मौलवी या पादरी के पास जाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। तुम अपनी समस्याओं को कितनी सुलझा पाओ यह तुम्हारी प्रबुद्धता, श्रम व तुम्हारी नियति पर निर्भर करेगा पर अपनी समस्याओं को समझने की क्षमता तो जरूर रखोगे। तुम्हारे पास वह मार्ग, वह मौलिक अन्तरदृष्टि होगी। इसके लिए कहीं खोजने नहीं जाना पड़ेगा। ध्यान इसका आधार है। ध्यान, जीवन में भोजन के समान जरूरी है, मानसिकता के लिए, आत्मिक परितृप्ति के लिए।

मैंने भी बहुत से तौर-तरीके अपनाए, नानाविध क्रियाएं कीं लेकिन पाया

कि, ये सीधे मार्ग नहीं हैं। टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडिया हैं। मुझे लगा कि अध्यात्म का संबंध मनुष्य की अन्तरात्मा से है और अन्तरात्मा को निर्मल तथा पवित्र बनाने के लिए ध्यान के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है। सारे मार्ग ध्यान तक पहुँचने के साधन हैं। ध्यान को अपनी गतिविधियों के साथ, अपने दैनिक जीवन की क्रियाओं के साथ जोड़ लो तो प्रतिक्रमण भी सार्थक हो जाएगा। पूजा-प्रार्थना भी सार्थक हो जाएगी। अन्यथा इन किताबों की पूजा-प्रार्थना को हजारों बार दोहरा लो तो फिर भी निल रहोगे, सिफर रहोगे। ध्यान में गाओगे, ध्यान में गुनगुनाओगे, ध्यानपूर्वक इनमें जिओगे तब शायद चार शब्द बोलकर भी बहुत कुछ पा जाओगे। ध्यान से निष्पन्न अहोभाव खुद ही प्रार्थना है। अहोभाव में गाये-गुनगुनाये दो बोल भी अन्तर के पट खोलेंगे।

जब शब्द मौन हो जाते हैं और हृदय का मौन मुखरित होता है, तभी वास्तविक आनन्द घटित होता है। मौन से प्रार्थना प्रारम्भ होती है और मौन में ही पूर्ण होती है। मौन प्रारम्भ है, मौन मध्य है, मौन अन्त है। स्वर्ण सोपान है मौन। जब शब्द चुप होते हैं तभी असली प्रार्थना, दुआ और शुभकामनाएं जीवित होती हैं। शब्द गौण, हमारी अन्तरात्मा के स्पंदन, हमारा ध्यान मुख्य। भोजन भी बहुत प्रेम से करो। ऐसा नहीं कहूंगा शरीर को सुखाते चले जाओ और उपवास करो, शरीर में ताकत नहीं है फिर भी लंबे-लंबे उपवास करते चले जाना। अगर शक्ति है जरूर तप करो। भोजन शरीर की आवश्यकता है और आवश्यकता की आपूर्ति करना मनुष्य का कर्म है। भोजन अमुक प्रकार का हो यह मनुष्य की इच्छा है और इच्छा का निरोध करना, संयम करना मनुष्य का धर्म है। आवश्यकता के विपरीत जाना धर्म नहीं, अधर्म है। इच्छा के साथ बहना अधर्म है और इच्छा का नियमन, संयम और शोधन करना धर्म है।

महावीर ने तप की बात कही और उनके अनुयाइयों के लिए आज एक ही धर्म, 'तप' बचा है। महावीर ने यह भी कहा कि मेरे प्रिय वत्स! मैं तुम्हें तप के बारह प्रकार दे रहा हूँ लेकिन हमने उनमें से केवल एक प्रकार को ही तप की परिभाषा समझा है, ग्यारह प्रकारों की तो उपेक्षा ही कर दी। नतीजा यह हो रहा है कि तप करके हम परिशुद्ध नहीं हो रहे हैं। जब एक माह तक उपवास करने वाले व्यक्ति को मैं क्रोध करते हुए देखता हूँ या दिन में आठ घंटे स्वाध्याय करने वाले को विद्वेष और वैमनस्य की चिंगारियाँ फैलाते हुए देखता हूँ तो सोचता हूँ कहाँ है तप, कहाँ है धर्म? स्वाध्याय ने जीवन में कौन-सा ज्ञानमूलक परिणाम किया?

चेतना का विकास : श्री चन्द्रप्रभ/७

धर्म उनके लिए है जिनके दिलों में आत्म-ज्योति के लिए कोई अन्तर-प्यास है, कोई सांची लगन है। धर्म प्रत्येक के लिए नहीं है, वह तो पिपासुओं के लिए है, जिज्ञासुओं के लिए है। धर्म का संबंध धन से, कुल से नहीं बल्कि व्यक्ति की ललक, प्यास, रुचि और दृष्टि से है। जिसकी दृष्टि खुल गई वह सभी जगह से अच्छी बातें ही लेगा अन्यथा धारावाहिक रामायण देखकर भी तीर चलाना ही सीखोगे। महाभारत से द्यूत-क्रीड़ा में ही महारथ हासिल करोगे। यह हमारी दृष्टि पर है कि हम किस तरह जी जाते हैं। अगर हमारे भीतर वह प्रभुता है, वह चैतन्यदृष्टि है तो शायद कुछ उपलब्ध कर सकते हैं, जीवन को शिखर तक जी सकते हैं। मैं तो अपनी ओर से यही निवेदन करना चाहूंगा कि हम लोगों को महावीर होना है, बुद्ध होना है, राम होना है। हम अपनी ऊंचाइयों में जो हो सकते हैं, वह होना है। महावीर और बुद्ध का घर-घर पुनर्संस्करण निकालना है।

दुनिया में दो तरह के महापुरुष होते हैं—एक तो वे जो दुनिया को अच्छी-अच्छी बातें देते हैं, अच्छे सिद्धान्त और अच्छे विचार देते हैं और दूसरे वे, जो दुनिया को जीवन देते हैं, जीने की कला देते हैं। इस मृतप्रायः, दिग्भ्रम दुनिया को जीना सिखाते हैं, जीने का वरदान देते हैं। मेरे पास कोई सिद्धान्त या शिक्षा नहीं है, इसलिए जब मैं बोलता हूं तो यह मत समझिए कि कोई उपदेशक हूं। मुझे उपदेश देने की प्रवृत्ति पसंद नहीं है। मैं चाहता हूं सब अपने आप में जिएं। कोई दूसरा भी जीवन के महोत्सव में शामिल होना चाहता है तो उसे भी सम्मिलित कर लो ताकि वह हमारी तरह जी सके। प्रेम, आनन्द और जीवन-मूल्यों को आत्मसात् कर जी सके, अपनी अन्तश्चेतना को जागरूक कर अभिभूत अहोभाव से जी सके। शरीर भले ही नश्वर हो, पर अमर जीवन प्राप्त कर ले। मन भले ही चंचल स्वभावी हो, पर अतिमानस के प्रकाश से परिपूर्ण हो जाये।

मैं तो सिर्फ 'जीवन' देना चाहता हूं। जीवन, एक तो वह है जो आप माता-पिता से प्राप्त करते हैं दूसरा वह जिसका निर्माण आपको स्वयं करना है। दीक्षा का अर्थ ही यही है कि व्यक्ति का जीवन बदला, उसके हृदय में जीवन के प्रति सम्मान का भाव जगा, जीवन में भगवान को निहारने का भाव जगा, जीवन को रूपान्तरित करने की अभीप्सा जगी। परमात्मा कभी भी जीवन से हटकर नहीं है, यह बात मैं बार-बार कहना चाहूंगा क्योंकि परमात्मा शाश्वत है, वह मृत नहीं, जीवित है, आत्मा का ही परम रूप है। जो मृत होता है वही मर्त्यों में विहार करता है और जो जीवित होता है वह जीवन और अमृत में विचरता है। जब

अमृत की अभीप्सा/८

जीवन में परमात्मा की शाश्वतता निवास करती है, तो हम कहाँ ढूँढ़ें उसे। कस्तूरी कुण्डल बसै। अपने में डूबें।

चेतना का विकास : श्री चन्द्रप्रभ/६



---

## प्रश्न समाधान



► *आत्मा का निर्माण किसने किया? - विजय बाफना*

आत्मा का निर्माण किसने किया, यह पूछने की बजाय यह सोचो कि तुम आत्मवान् हुए या नहीं। जीव तो सभी हैं, पर आत्मवान् वही है जो जन्म-मरण से मुक्त हुआ, कामना और अहंभाव से मुक्त हुआ।

तुम पूछते हो आत्मा का निर्माण किसने किया? मेरे देखे, अभी तक मनुष्य ने जितनी चूकें की हैं, उनमें एक यह भी है। तुम आज भी यह नहीं पहचान रहे हो कि तुम स्वयं एक आत्मा हो। निर्माण किसने किया? तुम अतीत में जाना चाहते हो। वर्तमान को टुकरा रहे हो कि तुम आज भी एक आत्मा हो इसे जानने की कोई अभीप्सा या उत्कंठा नहीं। अतीत की कोई सीमा नहीं है। अतीत का इतिहास सागर में गोते लगाने से भी गहरा है, आकाश में उड़ान भरने से भी विराट है। उस अतीत को भूल जाओ जिसका छोर तुम्हारे हाथ नहीं लग सकता। जे पद श्री सर्वज्ञे दीदूं ज्ञान मां, कही शक्या नहीं पण ते श्री भगवान जो। उस तक तो सर्वज्ञ की भी

पहुंच नहीं है। हालांकि मैं ऐसा न कहूँगा। मैं यह कहूँगा कि जब तुम आत्मा को उपलब्ध हो जाओगे, तो ऐसे प्रश्न स्वयं ही तिरोहित हो जाएंगे, या यूँ कहूँ कि तुम्हारी परितृप्ति ही तुम्हारे प्रश्न का जवाब होगी।

ऐसा ही हुआ जब बुद्ध किसी मार्ग से गुजर रहे थे, उन्होंने देखा कि एक आदमी के पांव में तीर लगा था, वह छटपटा रहा था। वे उसके पास पहुंचे और कहा 'वत्स, अपना पांव मेरी ओर कर दो, मैं तुम्हारा तीर निकाल दूँ।' आदमी चिल्लाया, 'नहीं, तुम तीर बाद में निकालना। पहले यह बताओ कि तीर किसने मारा, क्यों मारा।' जो गलती उस समय उस व्यक्ति ने की थी हम आज भी वही गलती कर रहे हैं। इस धरती पर जब तक अज्ञान रहेगा ये गलतियाँ दोहराई जाती रहेंगी। तुम अपने तीर को निकाल लो, दर्द खत्म हो गया, जान बची, लाखों पाये। किसने मारा, अब इस पर इतना सिर क्यों खपाते हो? सुरक्षा का इन्तजाम भर कर लो।

आत्मा का निर्माण किसने किया? अरे, जब तुमने स्वयं का निर्माण ही अभी तक नहीं किया, तुम्हारा जीवन भी तुमसे नहीं मिला है माता-पिता से पाया है, कौन कह सकता है आत्मा का निर्माण किसने किया है। अतीत के जितने भी प्रश्न उठाओगे वे सभी आकाश में गुब्बारे उड़ाने के समान हैं। अतीत बहुत अच्छा है, लेकिन तभी जब हमारा वर्तमान जीवन महान होगा। इसलिए, इन सवालों को दिमाग से निकाल दो कि दुनिया को किसने बनाया या आत्मा को किसने बनाया। पहले मुर्गी बनी या पहले अंडा बना, कब बना इन प्रश्नों को छोड़ दो। इन सवालों को जीने से हमें कुछ नहीं मिलने वाला। पहले ही दिमाग में बहुत कचरा भरा हुआ है, ऐसे सवालों को लाकर और कचरा क्यों भर रहे हो। तुम तो यह देखने का प्रयास करो कि आज की तारीख में तुम क्या हो? तुम्हारे भीतर कैसी सम्भावनाएं हैं, सृजन की शक्तियां हैं या विध्वंस की? और अगर विध्वंस की शक्तियां हों तो उन्हें कैसे सृजन की शक्ति में रूपान्तरित किया जाए।

ध्यान का कार्य विध्वंस की शक्तियों को सृजन में परिवर्तित करना है। ध्यान जीवन को रूपान्तरित करता है, अन्तरदृष्टि का उद्घाटन करता है, आत्मवान बनाता है। जब अन्तरदृष्टि खुलेगी तब तुम्हें उत्तर मिलेगा तुम्हारा निर्माण किसने किया, तुम्हारे भीतर कौन है। शब्दों से नहीं अनुभूतियों

से उत्तर मिलेगा। आप अपने भीतर जीने का प्रयास कीजिए तब आपको अपने प्रश्न का सही जवाब स्वयं से मिलेगा श्रीमान् विजय बाफना।

► क्या 'ओम' का जाप, समय मिले तो ऑफिस, व्यवसाय आदि के स्थान पर किया जा सकता है? - भंवरलाल देवे

धर्म के लिए कोई स्थान नहीं होता। जितने क्षणों के लिए तुम धार्मिक होते हो उतनी देर के लिए तुम जहाँ होते हो वह स्थान मंदिर हो जाता है। मैं यही निवेदन करना चाहता हूँ कि जब आप ऑफिस में रहें, अपने व्यवसाय में रहें, उस समय भी अगर आप ध्यान में जीते हैं, तो यही अध्यात्म का जीवन में क्रियान्वयन है, यही जिंदगी की जिंदादिली है। यही तो चाहता हूँ कि येन-केन-प्रकारेण व्यवसाय करते हुए भी वही भाव जग जाए, उतने ही रस से जितने रस से आप यहाँ डूबे हैं। किसी से मिलो तो इतने प्रेम और ध्यान से मिलो कि वह चौंक जाए कि आज मैं किसी से मिला था। भुलाए न भूल पाए आपको। अगर बीमार हो जाओ तो उस बीमारी को भी इतनी मस्ती से, इतने साक्षीभाव से भोगो कि उस बीमारी को भोगते हुए लगे कि शरीर में कैसे, क्या-क्या दिखाई पड़ रहा है। कभी यह भाव मत लाओ कि मेरे भीतर यह घटित हो रहा है। यह देखने का प्रयास करो कि शरीर के इस अंग में दर्द हो रहा है। साक्षीत्व का उदय वहीं होता है जब व्यक्ति पांव में उठने वाले दर्द को भी देखता है।

अपने सामने से अर्थी गुजर जाए तो पहला काम है देखो, दूसरा काम है सोचो। मैंने कहा कि धर्म उन लोगों के लिए है जिनके दिलों में प्रकाश के लिए प्यास है, सत्य के लिए, अन्तर-आनन्द के लिए कोई अभीप्सा है। यह अभीप्सा और प्यास तभी जगती है जब व्यक्ति देखता है और सोचता है। जो सोचता है तत्काल कुछ घटित होता है। अगर पास से अर्थी गुजर जाए तो देखा, पर केवल देखना ही काफी नहीं है। देखा तो सम्यक् दर्शन जरूर हुआ, पर सोचो। जैसे ही सोचने लगते हो तुरंत लगेगा यह अर्थी तो मेरी ही है। जिस क्षण यह बोध होगा कि यह अर्थी तो मेरी है, शरीर कंपेगा और एक प्यास की किरण पैदा होगी। आदमी झनझनाएगा, फिर से दुनिया की प्रवृत्तियों में लग जाएगा। फिर जब कोई अर्थी देखेगा, पुनः सोचेगा और वह सोच शरीर के प्रति रहने वाले तादात्म्य

को हटा देगा। जीवन में चिंतन-मनन होना ही चाहिये। मनन ही मनुष्य की परिभाषा है। आत्मा है।

धार्मिक मनीषा कहती है, चलो तो इस तरह कि कोई कीड़ा-मकोड़ा न मर जाए। यह अच्छी बात है, अहिंसा का पालन है। लेकिन चलो तो हमेशा यह बोध कायम रखो कि शरीर चल रहा है, मैं तो टिका हुआ हूं। बुद्ध ने अंगुलिमाल से कहा था, मैं तो रुका हुआ हूँ, हो सके तो तुम रुक जाओ। जिसका मन रुका हुआ है, वह चलकर भी अचल है। जिसका मन बह रहा है, वह रुका होकर भी चल रहा है। मनः स्थिति पर ही सब कुछ है।

कहते हैं यूनान के बादशाह सिकंदर हिन्दुस्तान में आया और हिन्दुस्तान को जीता। जब वह वापस लौटने लगा तो याद आया कि डायोजनीज़ ने कहा था कि तुम भारत से चाहे जितनी धन-सम्पत्ति लेकर आना, पर वहाँ से एक संत को जरूर लाना। सिकंदर को भी यह बात स्मरण में थी कि आखिर ऐसी क्या बात है। जिस गांव में वह ठहरा था, वहाँ उसने अपने सिपाहियों से कहा, आसपास में दूँढो कोई संत है क्या। देखा, एक संत मिल गया। सिकंदर ने अपने सिपाही को भेजा, संत को बुलवाया। सिपाही ने संत से जाकर कहा कि महान सम्राट सिकंदर का आदेश है कि आप उनकी सेवा में चलें। संत ने कहा 'जो आज्ञा मानने वाला था, वह अब नहीं रहा। जो औरों की आज्ञा नहीं मानता वही साधु है।' सिपाही कुछ न समझा, चला गया। सिकंदर चौंका, उसने अपने सेनापति को भेजा। उसने आकर संत से कहा, 'तुम्हें पता है तुमने किस के लिए वह बात कही? तुम्हें चलना पड़ेगा, हर हाल में चलना पड़ेगा, महान् सिकंदर तुम्हें बुला रहा है।' संत ने कहा 'जिसे जरूरत होगी, वह खुद यहाँ आ जाएगा। मुझे तो सिकंदर की जरूरत नहीं है।' सिकंदर यह बात सुनकर कि सिकंदर की भी जिसे जरूरत नहीं है, वहाँ पहुंचा। उसने संत से कहा, 'तुमने किस सम्राट के आदेश की अवहेलना की है, जानते हो?' संत ने कहा, 'हां,' जानता हूँ। मैंने उस सम्राट, उस व्यक्ति के आदेश की अवहेलना की है जो अपने आसपास उड़ने वाली मक्खियों तक को भी अपने नियंत्रण में नहीं रख सकता। अगर तुम आदेश दे सकते हो तो इन मक्खियों को आदेश देकर बताओ, मैं भी देखता हूँ तुम उन्हें कैसे अपने साथ लेकर जाते हो।' सिकंदर को क्रोध आ गया, कहा,

चेतना का विकास : श्री चन्द्रप्रभ/१३

अगर तुम संत न होते, तो मैं तुम्हें हलाल कर देता, गर्दन काट देता।' संत बोले, 'हमने सब कुछ देखा है, बस एक यही नहीं देखा, तुम काटो, हम शरीर को कटते हुए देखेंगे।' सिकंदर नहीं समझ पाया और शायद आप भी नहीं समझ पाए।

उस व्यक्ति ने यह कहने का दुस्साहस इसीलिए किया कि शरीर जो कटने वाला है वह और उस शरीर का दृष्टा, उस शरीर का साक्षी दोनों अलग हैं। वह अपने शरीर को कटता हुआ देखेगा। अगर शरीर बीमार होता है तो वह बीमार होते हुए शरीर को देखेगा। क्रोध उठता है तो पनपते हुए क्रोध को देखेगा। साक्षी-भाव, दृष्टा-भाव, ज्ञाता-भाव। हम जानेंगे, देखेंगे, सोचेंगे। इसलिए साक्षी भाव, दृष्टा भाव के साथ जीते हो तो व्यवसाय की दुकान, दुकान नहीं एक मंदिर है। उस दिन तुम स्वयं को पक्का धार्मिक मान लेना, जिस दिन तुम्हारा घर और दुकान भी परमात्मा का मंदिर हो जाये। कबीर कहते हैं :

खाऊं पीऊं सो सेवा, उठूं-बैठूं सो परिक्रमा। खाना-पीना भी सेवा हो जाए और उठना-बैठना भी परिक्रमा — परमात्मा की सेवा, परमात्मा की परिक्रमा।  
नमस्कार।



# 2

## मनुष्य का अंतरंग

मेरे प्रिय आत्मन्,

**भगवान** जीसस के जीवन की एक प्यारी-सी घटना है। कहते हैं कि गैलेली झील के बीच जोर का तूफान उठा। उस तूफान के मध्य एक नौका घिर गई। किनारे पर लगने के लिए नाविकों ने बहुत चेष्टा की पर उन्हें सफलता दिखाई नहीं दे रही थी। तूफान का वेग निरन्तर बढ़ रहा था। नाविक जब थककर चूर हो गए और मान लिया कि अब तो हमें डूबकर मरना ही पड़ेगा, तभी उनकी नज़र नौका के एक किनारे पर पड़ी, जहाँ एक व्यक्ति सोया हुआ था। नाविक यह देखकर दंग रह गए कि इस उफनते-भड़कते तूफान के बीच भी कोई इस प्रकार गहरी नींद सो सकता है।

उन्होंने उस आदमी को झिंझोड़ा और चिल्लाकर कहा - 'क्या तुम्हें पता नहीं है कि क्या हो गया?' वह हड़बड़ाकर उठा और पूछने लगा - 'क्या हुआ?' नाविक और अधिक चौंके, लेकिन वे कुछ और बोलें इससे पहले ही उस व्यक्ति ने कहा - 'क्या तुम्हें अपने-आप पर इतनी भी आस्था नहीं है? क्या तुम्हें स्वयं पर

चेतना का विकास : श्री चन्द्रप्रभ/१५

इतनी भी श्रद्धा नहीं है?’ इसी के साथ वह खड़ा हुआ और नौका के एक किनारे से दूसरे किनारे पर गया और उफनते हुए तूफान, भड़कती हुई झील को देखकर पहले जोर से हंसा। फिर झील को संबोधित करते हुए कहा, बहुत हो गया, अब शान्त हो जाओ, परिपूर्ण शान्त।’ नाविक चौंके। उन्होंने सोचा क्या इस आदमी पर पागलपन सवार हो गया है? यह तो ऐसे कह रहा है जैसे यह उफनती हुई झील, कोई नन्हा-सा नटखट बालक हो।

लेकिन आश्चर्य तो यह है कि सभी नाविकों ने देखा कि जैसे ही उस आदमी ने कहा, चुप शांत हो जाओ, वैसे ही तूफान थमने लगा। धीरे-धीरे तूफान शांत हो गया। नौका किनारे आ गई।

भगवान यीशू के जीवन की इस घटना को अतिशयोक्ति भी माना जा सकता है। लेकिन मुझे तो आज भी लगता है कि यह कहानी दो हजार वर्ष पुरानी नहीं हुई है। और यह भी कहा नहीं जा सकता कि ऐसी घटना घटित हुई थी या नहीं। लेकिन मैं इस कहानी को सदा प्रतीक रूप में लेता हूँ।

मुझे तो लगता है हमारे भीतर की झील में इस समय भी जोरदार तूफान उठ रहा है। हमारे अपने ही मन की झील में, अपने ही चित्त की नदियों में जबर्दस्त तूफान उठ रहा है कि नाविक परेशान, दुनिया परेशान। सब मुसीबत में घिरे हुए दिखाई देते हैं। कोई सोच नहीं पाता कि क्या मार्ग होगा। लेकिन जो बात यीशू ने कही थी वही बात दो हजार वर्ष पश्चात् मैं पुनः दोहराना चाहता हूँ कि ‘क्या अपने-आप पर आस्था खो चुके हो?’ जो व्यक्ति अपने-आप पर से आस्था खो चुका है वह जीवन में परमात्मा के प्रति भी आस्था नहीं रख सकेगा। परमात्मा तो दूसरे स्थान पर है, प्रथम स्थान पर तो मनुष्य स्वयं है। परमात्मा आखिरी है, प्रथम मनुष्य है।

जिसका स्वयं पर विश्वास नहीं है उसका दूसरों पर कभी विश्वास नहीं हो सकता। आत्म-विश्वास, परमात्म-विश्वास का पहला और अनिवार्य चरण है। स्वयं का विश्वास खोने वाला और मंदिर, मस्जिद, गिरजे, गुरुद्वारों में जाकर खुदा और परमात्मा के प्रति अपनी आस्था दिखाने वाला आदमी आत्मच्युत है। तुम अपने आप को धोखा देकर, स्वयं के प्रति अविश्वास करके किसी के प्रति भी विश्वास नहीं कर सकते। आत्म-श्रद्धा और आत्म-आस्था पहली सीढ़ी है।

दुनिया में आस्तिक वह नहीं है जो किसी ग्रन्थ, मन्दिर, मस्जिद या परमात्मा के प्रति अपनी आस्था रखता है। आज ये परिभाषाएं पुरानी हो चुकी हैं। पंडे, पुरोहित, पुजारियों की अब सत्ता नहीं है। आज लोकतंत्र है। हमारा और आपका

साम्राज्य है। अब ये परिभाषाएं बदल चुकी हैं। आस्तिक वह है जो स्वयं के प्रति विश्वास रखता है। नास्तिक वह है जिसका स्वयं से विश्वास उठ गया है।

अगर मंदिर में या संतों-महंतों को मत्था टेकना ही आस्तिकता हो, तब तो यह आस्तिकता और धार्मिकता बहुत सरल और सस्ती है। माथा नवाने में क्या लगता है? किसी साधु को देखा नहीं कि लगा दी धोक। लेकिन वही संत तुम्हें कहे कि जरा, यह काम करते जाओ। तुम तुरंत कहोगे दुकान पहुंचना है। मस्तक नवाना कुछ कठिन नहीं है। लेकिन कोई संत किसी अच्छे कार्य में तुम्हारा सहयोग चाहे तो कहोगे, अभी पत्नी से या बच्चों से पूछना पड़ेगा। तुम्हारे धन से, समय से, परिवार से, सभी से सस्ता तुम्हारा मस्तक है। मस्तक को नवाना कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। अगर तुम किसी के पांवों में झुक भी गए तो क्या फर्क पड़ता है! व्यक्ति के लिए केवल मस्तक नवा लेना ही काफी नहीं होता, उसकी आस्तिकता तो उसके स्वयं के भीतर से प्रगट होती है।

अभी तक आपने यही सुना है कि उस अज्ञात लोक में रहने वाली, किसी अदृश्य सत्ता के प्रति अपना विश्वास रखो। लेकिन मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि सबसे पहले खुद के प्रति विश्वास जगाओ। धर्म की शुरुआत परमात्मा से नहीं होती, धर्म की शुरुआत स्वयं से होती है। अध्यात्म का प्रवर्तन किसी शास्त्र से नहीं, अपनी ही आत्मा से होता है। इसलिए जब मैं 'आत्म-दर्शन' की बात कहता हूँ तो यह कोई काल्पनिक आत्मा नहीं है। अपने-आप को देखने की बात है। आत्म-दर्शन अपने भीतर की सच्चाई को जानना, परखना और निरीक्षण करना है। ध्यान में, काल्पनिक या शब्द से बंधी हमारी आत्मा, चेतना या ऊर्जा को मुक्त करते हुए, व्यक्ति को उस सच्चाई का पता लगाना है जो उसके स्वयं के भीतर है। इसलिए ध्यान में किसी ने अपने भीतर छिपी दमित इच्छाओं को देखा है तो मेरे देखे उसने आत्म-दर्शन किया है। यदि कोई अपने भीतर के क्रोध को पहचान रहा है तो मेरी दृष्टि में उसने आत्म-ज्ञान की ओर कदम बढ़ाया है। उसने अपने आपको जाना है, पहचाना है कि आज मेरी क्या स्थिति है। यही उसका आत्म-दर्शन या आत्म-ज्ञान है।

आत्म-ज्ञान आखिरी भूमिका नहीं है। आत्म-दर्शन और आत्म-ज्ञान अध्यात्म के प्रथम चरण हैं। आत्मा अर्थात् तुम स्वयं, तुम जो हो। इस शरीर या मन, वचन, चित्त और चेतना से हटकर आत्मा नहीं है। आत्मा सबमें घुली-मिली है। बीज में से न जाने कितनी चीजें खिल-खिलकर आती हैं। बीज सबमें है, बीज से खिली हर चीज में है। अगर कोई चाहे कि इन्हें अलग-अलग कर दें तो इन्हें

चेतना का विकास : श्री चन्द्रप्रभ/१७

अलग-अलग नहीं किया जा सकता लेकिन इसके मूलभूत सिद्धान्त या मूलभूत प्रक्रिया को हम जान सकते हैं कि जीवन का निर्माण कैसे हुआ और जीवन का समापन कैसे होगा।

व्यक्ति के भीतर केवल बुराइयां ही नहीं, अच्छाइयां भी छिपी हुई हैं। शुभ केन्द्र भी हैं। फ्रायड जिसने इतना बड़ा मनोविज्ञान खड़ा किया वह भी जीवन के मूल्यों तक, जीवन के मूलभूत सिद्धान्तों तक नहीं पहुंच पाया। उसने केवल एक ही व्याख्या दी कि मनुष्य के मन में दमित इच्छाएं भरी हुई हैं और उसके द्वारा जितनी भी गलत प्रवृत्तियाँ होती हैं उन सबके पीछे उसकी दमित वृत्तियाँ और दमित इच्छाएं ही काम करती हैं। लेकिन व्यक्ति के भीतर केवल बुरे ही नहीं बल्कि अच्छे संस्कार भी हैं, अच्छे केन्द्र भी हैं।

हमारे भीतर अच्छी और बुरी दोनों ही सम्भावनाएं हैं। जब हम ध्यान करते हैं तब वे सम्भावनाएं जगती हैं। ध्यान में दोनों चीजें साथ-साथ जगती हैं, दमित वृत्तियाँ और अच्छे संस्कार। अर्थात् धूल भी उड़ती है और वर्षा भी होती है। यदि उड़ती हुई धूल देख पाओगे तो वर्षा होती हुई भी देख सकोगे। जो दोनों चीजें तुम्हें दिखाई न दे, तुम्हारी अनुभूति में न आए तो जानना कि जो मार्ग तुमने पकड़ा है उसमें कुछ-न-कुछ कमी है।

यदि धर्म के मार्ग का कोई प्रयोग नहीं है और उसका परिणाम हम अपने जीवन में प्राप्त नहीं कर पाते तो उस धर्म में भी कुछ कमी है। धर्म का कोई मार्ग नहीं और उस मार्ग का कोई मार्गफल नहीं तो वह धर्म दिखाऊ ऊपर-ऊपर होगा। अगर जीवन के मूल्यों का, अध्यात्म का कोई प्रयोग नहीं और प्रयोग का कोई परिणाम नहीं तो वह अध्यात्म सिर्फ रूढ़िवाद, क्रियाकाण्ड और कट्टरता होगा।

जीवन का निर्माण कट्टरता से नहीं होता। जीवन का निर्माण जीवन-मूल्यों से होता है। जीवन के मूल्य कभी बाहर से नहीं आते, वे वहीं से आते हैं जहाँ अमूल्य चीजें छिपी हुई हैं। इसलिए दमित इच्छाएं भी प्रगट होंगी और अच्छे संस्कार, अच्छी सम्भावनाएं भी जन्म लेंगीं। मन, चित्त, विकल्प सब हमारे ही भीतर छिपे हैं। अगर हमारे मन में यह संकल्प है कि हम अरिहंत-भाव के साथ जिएं और जीवन के साथ संघर्ष भी कर लेंगे, तब शायद कुछ हुआ जा सकता है। मैंने अपने गहरे अनुभवों से पाया है कि व्यक्ति जब तक अपने चित्त के विकारों को शुद्ध नहीं कर लेता, अन्तर्जगत् को उज्ज्वल नहीं बना लेता तब तक उसके द्वारा किया गया प्रत्येक धर्माचरण मात्र परम्परा निर्वाह और रूढ़िवाद होता है। व्यवहार का निभाना भर होता है।

हमने कोई क्रिया की या आचार-विचार, व्यवहार पाला और इन सबके द्वारा हमारे भीतर की चित्त-शुद्धि न हुई या विकार कम न हुए तो उस धर्माचरण का परिणाम क्या हुआ? ऐसे धर्माचरण का परिणाम क्या निर्वाण और मुक्ति होगा? मुक्ति और निर्वाण तो चित्त के विकारों के समापन से उपलब्ध होता है, न कि किसी पथ पर चलते रहने से। चित्त के विकार थोड़े से भी कम हो जाएं तो हम कथित धार्मिकों से अधिक धार्मिक होंगे क्योंकि किसी भी प्रकार का दुष्कर्म, चाहे वह वाणी का हो या शरीर का, सब हमारे भीतर से ही आते हैं। हमारे मनोविकारों से ही हमारे शरीरगत और वाणीगत विकार प्रगट होते हैं। यदि कोई गाली देता है तो उसका अर्थ यह नहीं कि उसकी जबान गंदी है अपितु उसके चित्त में, मन में इतनी गालियाँ भरी हुई हैं, बुद्धि में इतनी विकृति है कि जबान गंदी लगती है। यदि कोई किसी को चाँटा मारता है तो यह अपराध उसके शरीर द्वारा इसलिए हो रहा है कि उसके मन में चाँटा मारने का भाव है।

निश्चित रूप से मनुष्य के भीतर मनोविकार प्रगट होते हैं लेकिन बाहर निकले यह जरूरी नहीं है। प्रत्येक मनुष्य के सामने यह सहज समस्या रहती है कि वह अपने भीतर उमड़ने वाली इच्छा को पूरा करे या दबाकर रखे। वह अपनी इच्छाओं का निरोध करे या उपयोग करे। लेकिन प्रत्येक इच्छा का उपभोग करना भी सम्भव नहीं है क्योंकि बीच में समाज, संस्कार, व्यवहार, संस्कृति, सभ्यता हमें रोक लेते हैं और जब उसकी इच्छाएं पूरी नहीं होती तो वह उन्हें दबाना चाहता है। लेकिन आत्म-दमन का मार्ग कभी भी अध्यात्म का मार्ग नहीं हो सकता क्योंकि अपनी इच्छा को जितना दबाओगे उसकी ताकत उतनी ही अधिक बढ़ेगी। स्त्रिंग को जितनी शक्ति से दबाओगे छोड़ने पर उतनी ही तेजी से झटका लगेगा। इसलिए किसी भी इच्छा को दबाना अध्यात्म नहीं है, वहीं हर इच्छा को पूरी कर लेना सभ्यता नहीं है तो फिर आखिर मनुष्य के लिए मार्ग कौनसा हो सकता है?

जब वह अपनी हर इच्छा को पूरी भी नहीं कर सकता और दबाये रखे तो और ज्यादा विस्फोट की सम्भावना होती है; तो बड़ी मुश्किल है, अब मनुष्य क्या करे? दमन और उपभोग दोनों ही मार्ग घातक हैं। मनुष्य के सामने यह बहुत बड़ी समस्या है। एक अहिंसक आदमी के मन में भी कभी-कभी हिंसा के भाव भड़क उठते हैं और कभी-कभी हिंसक के मन में भी अहिंसा के भाव आ जाते हैं। जो व्यक्ति अब्रह्मचर्य का सेवन करते हैं उनके मन में ब्रह्मचर्य के भाव आ जाते हैं और जो ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं उनके मन में अब्रह्मचर्य की कल्पना आ जाती है। किसी पक्षी को पिंजरे में कैद कर लो तो वह आकाश में



उड़ना चाहता है और आकाश में उड़ने वाला सोचता है पिंजरे में कितना आनन्द है, बैठे-बैठे ही सब कुछ मिल जाता है और मुझे दिन भर कितना श्रम करना पड़ता है।

इस मन में इतने विरोधी भाव क्यों पैदा होते हैं? जब घर में होते हैं तो मन मंदिर जाने को कहता है और जैसे ही मंदिर पहुँचते हैं मन कहता है अब लौट चलो। हमारा मन ही मंदिर और मधुशाला जाने की प्रेरणा देता है। हमारे मन में प्रायः अनेकों प्रकार के विरोधी विचार दिन-रात उठते रहते हैं। चौबीस घंटे में हम गिनती के कार्य ही कर पाते हैं लेकिन मन के भीतर तो हजारों घटनाएं घट जाती हैं। आखिर ऐसा क्यों?

हमारे सामने आज आतंक या शस्त्रास्त्रों की समस्या नहीं है। आज का युग तो मानसिक समस्याओं का युग है। 'मन' ही समस्या है और इस 'मन' से मुक्त हो जाना ही समस्या का समाधान है। किन्तु हर व्यक्ति अपने मन से मुक्त नहीं हो सकता। मैं आपको मन से मुक्त होने की शिक्षा नहीं दे रहा हूँ बल्कि अपना मन जो विकृत मार्ग पर जा रहा है उस विकृत मार्ग से संस्कारित मार्ग पर लाने की कला सिखाना चाहता हूँ। मन से मुक्त हो जाना हर इन्सान के लिए स्वाभाविक नहीं है लेकिन मन को सम्यक् दिशा प्रदान कर देना, यह आम आदमी के लिए सम्भव है। मन जो हर वक्त दौड़ता है, यदि एकाग्र और तन्मय हो जाए तो इसकी प्रचण्ड ऊर्जा हमारे आत्म-साक्षात्कार और परमात्म-अनुभूति में सबसे बड़ी सहायक हो सकती है।

हम अपने मन के स्वभाव को समझें। इसके व्यक्तित्व, कर्तृत्व और अस्तित्व को समझने की चेष्टा करें। जब हम भीतर झाँकते हैं तो सबसे पहले विचारों की अनुभूति होती है। दिमाग में विचार आते हैं लेकिन ये विचार आते कहाँ से हैं? जहाँ से विचार आते हैं उसी का नाम 'मन' है। मन तो सिर्फ उपकरण है, एक यंत्र है। वह अपने हिसाब से कुछ नहीं करता। मन के नागलोक का स्वामी कोई और है। अगर मन में कुछ अच्छे या बुरे विचार आते हैं तो इसमें मन का दोष नहीं है। इसलिए मन को सताने, दबाने का प्रयास मत करना। यह मन तो निर्दोष है। इस मन का एक स्वामी कोई और है जहाँ से सारे स्फुलिंग और चिंगारियाँ आती हैं और वे बाहरी दुनिया में हजारों तरह की घटनाएं, तहस-नहस मचाती हैं। और यह स्वामी है —'चित्त'।

मन अचेतन होता है और चित्त सचेतन होता है। मन ज्ञायक होता है और चित्त ज्ञाता होता है। चित्त को हमारी ही चेतना से कुछ ऊर्जा मिलती है

जिससे यह सक्रिय रहता है। चित्त से जो वृत्ति पैदा होती है उस वृत्ति का नाम ही 'मन' है। मन के द्वारा चित्त की आपूर्ति होती है। मन से ही चित्त की अनुभूति होती है।

आज का मनोविज्ञान सिर्फ 'माइंड' (मन) तक पहुंचा है। 'मैं' चाहता हूँ यह मनोविज्ञान और अधिक विस्तृत हो। उसका ज्ञान, उसकी पहुंच केवल 'माइंड' तक ही सीमित न रहे, वह 'साइक' (चित्त) तक भी पहुंच जाए। हमें मन के पार भी झांकना होगा कि आखिर ये अच्छे और बुरे संस्कार कहाँ से आते हैं? हमने नहीं चाहा कि हमारे भीतर विकार उठें फिर भी ये विकार कहाँ से उठ रहे हैं? हमने नहीं चाहा कि हम क्रोध करें फिर भी यह क्रोध कहाँ से आ रहा है? आप सोचकर हैरान होंगे कि आप किसी का बुरा नहीं करना चाहते फिर भी ये बुरे-बुरे विचार कहाँ से आ जाते हैं? ये सब हमारे चित्त से आते हैं। कहीं और से नहीं, हमारे भीतर से ही आते हैं। अपनी हर अच्छाई या बुराई के जिम्मेदार हम स्वयं हैं।

हमारे मन का स्थान वृहद् मस्तिष्क में है। मस्तिष्क के तीन भाग हैं - अग्र मस्तिष्क, मध्य मस्तिष्क और पृष्ठ मस्तिष्क। मध्य मस्तिष्क जिसे वृहद् मस्तिष्क भी कहते हैं, यही हमारे मन का स्थान है, मुख्य केन्द्र है। मन और मस्तिष्क दोनों एक ही स्थान पर रहते हैं। मस्तिष्क का सम्बन्ध हमारे शरीर और विकल्पों से है जबकि मन का सम्बन्ध केवल बाहर से है।

हमारे शरीर में दो ज्ञान-केन्द्र हैं - मस्तिष्क और मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी)। मस्तिष्क में ज्ञानग्राही ग्रन्थियाँ होती हैं और मेरुदण्ड के आस-पास ज्ञानवाही ग्रन्थियाँ होती हैं। मस्तिष्क में दो केन्द्र हैं - ज्ञान-केन्द्र और क्रिया-केन्द्र। ज्ञान-केन्द्र ग्रहण करता है और क्रिया-केन्द्र अमुक-अमुक क्रिया और गतिविधि को करने का निर्देश देता है। जैसे मान लीजिए हम चल रहे हैं और चलते-चलते पांव में कांटा लग गया। कांटा लगते ही मस्तिष्क में उसकी संवेदना पहुँची और हमें ज्ञान हुआ कि मेरे पांव में कांटा लगा और तत्काल क्रिया-केन्द्र को संकेत मिलेगा, वह तुरंत सक्रिय होकर हाथ को आदेश देगा कि कांटा निकालो और हाथ अपने-आप वहाँ तक चला जाएगा। कांटा निकलेगा और अब उसकी संवेदना समाप्त हो गई। इस प्रकार हमारे ज्ञानवाही और ज्ञानग्राही केन्द्र सदा सक्रिय रहते हैं।

अब मन का कार्य शुरु होता है। कांटा निकल गया, अब हम चल रहे हैं, और मन शुरु हो जाता है, पांच साल पहले भी ऐसा कांटा गड़ा था, फिर भी गड़ सकता है। मस्तिष्क ने अपना काम पूरा कर लिया पर मन का शुरु हो जाता

चेतना का विकास : श्री चन्द्रप्रभ/२१

है। मन जितना अधिक काम करता है उतनी ही मनुष्य के लिए परेशानी हो जाती है।

आपका पड़ोसी मिलने आता है तब मस्तिष्क कार्य करता है और जब वह चला जाता है तब मन सक्रिय हो जाता है। 'नहीं-नहीं' मुझे ऐसा नहीं कहना चाहिए था। मैंने ऐसा कह दिया, गलत परिणाम निकल सकता है। कोई बात नहीं, अब कल जब वह मिलेगा तो मैं अपनी बात इस तरह धुमाकर कहूँगा। ऐसा कहूँगा - अब यह मन चल रहा है। मस्तिष्क का कार्य पूरा हो गया और मन चलता चला जाता है।

चित्त में जो दमित इच्छाएं, सम्भावनाएं छिपी रहती हैं उन्हें मन चेतना देता है।

ध्यान के द्वारा व्यक्ति अपने उस चित्त को उधेड़ता है, कुरेदता है। चित्त में जो भी समाया हुआ है - माटी या सोना - उसे जगाने का प्रयास करता है, उखाड़ने का प्रयास करता है। जब चित्त उखड़ता है तो बहुत जोरों की धूल उठती है लेकिन जितनी धूल उठती है उतने ही गहरे बादल भी मंडराते हैं। अगर हमने बादलों को संभाल लिया तो धूल मिट जाएगी और सिर्फ धूल पर ही ध्यान केन्द्रित किया तो तूफान में तुम स्वयं ही नष्ट हो जाओगे। बादल पर नज़र डाल दी तो ब्रह्मचर्य घटित हो जाएगा और धूल पर नज़र डाली तो वहीं विकारग्रस्त होकर भोग के मार्ग को ढूँढना प्रारम्भ कर दोगे।

आप चाहें या न चाहें चित्त तो उखड़ेगा, विकार तो प्रगट होंगे ही। इसलिए बीस वर्ष का युवक भी क्रोध करता है और साठ साल का वृद्ध भी क्रोध करता है। दोनों ही भोग का मार्ग चाहते हैं क्योंकि धूल उठती है। जब तक इस धूल को समाप्त नहीं किया जाएगा, इस पर बादलों की गहरी वर्षा नहीं की जाएगी तब तक यह धूल हमें परेशान करती रहेगी। आज ही नहीं, मरते वक्त भी परेशान करेगी और जन्म-जन्मान्तरों तक करती रहेगी। विकारों का पथरीला भटकाव जारी रहेगा।

अपने चित्त के प्रति हम जितना सावचेत और सावधान रहेंगे, आत्म-जाग्रत रहेंगे, हमारे चित्त के विकार उतने ही कम होते चले जाएंगे। अच्छे संस्कार उठें, स्वागत करो। बुरी बातें उभरकर आएँ उन्हें दूर हटाने का प्रयास करो। जब ध्यान करोगे दोनों ही बातें उठेंगी। विकारों के आने पर शोधन की प्रक्रिया अपनाइए, और अच्छी बातों के उठने पर उन्हें अपने जीवन में, व्यवहार में, मूल्यों में उतारने का प्रयास कीजिए। तब हमारे जीवन में आनन्द, अहोभाव घटित

होगा। हमें अपना जीवन बहुत महान लगेगा, अन्यथा जीवन बड़ा भारभूत लगता है।

मन का कार्य है चित्त के निर्देशों का पालन करना, उनका क्रियान्वयन करना। मन तो संदेशवाहक है, दूत है। मन तो नौकर की तरह है। चित्त उसे जो आदेश देता है वह पालन करता है। मन तो बड़ा बेचारा है, गरीब है। मन से हम जैसा करवाना चाहें वह कर सकता है बशर्ते हमारे चित्त की शुद्धि हो जाए। हमारे चित्त के संकल्प बहुत गहरे और उन्नत हो जाएं तो हम मन से जैसा चाहें वैसा करवा सकते हैं। तब अगर चित्त आदेश दे 'मन की झील तुम शांत हो जाओ' तो यह मन की झील पूरी तरह शांत हो जाएगी। यह सत्य और अनुभूत तथ्य है।

मैंने सुना है, मालिक के यहाँ एक नौकर काम करता था। एक बार मालिक ने नौकर के सामने बैंगन के भुर्ते की बहुत तारीफ की कि यह बड़ा स्वास्थ्यवर्धक है। भला नौकर कैसे पीछे रहता उसने भी मालिक के सुर में सुर मिलाया - 'आप ठीक कहते हैं मालिक, बैंगन का भुर्ता बड़ा गुणकारी होता है, जल्दी पचता है, स्वास्थ्य बनाता है, दिमाग मजबूत करता है।' मालिक ने सोचा जब नौकर भी इतनी तारीफ कर रहा है तो उसने खाना प्रारम्भ कर दिया।

पता नहीं एक दिन क्या हुआ जब मालिक सोने लगा तो उसे बैंगन याद आ गए। उसने अपने नौकर से कहा - 'ये बैंगन भी क्या वाहियात चीज है। बीमार कर देता है, पेट बढ़ाता है, अजीर्ण कर देता है, पचता नहीं है। बहुत खराब है।' नौकर ने कहा - 'मालिक आप बिल्कुल ठीक कहते हैं। बैंगन बहुत गलत चीज है। पाचनशक्ति खराब करता है। बैंगन का भुर्ता बिल्कुल नहीं खाना चाहिए।'

मालिक को याद आया, एक दिन इसी नौकर ने बैंगन की इतनी तारीफ की थी और आज जब मैंने कह दिया कि बैंगन अच्छे नहीं होते तो आज यह भी भुर्ते को खराब बता रहा है। उसने नौकर से कहा, 'तुमने बैंगन की निंदा की, ठीक है। लेकिन मैं पूछना चाहता हूँ उस दिन तुम तारीफ कर रहे थे और आज निंदा कर रहे हो, क्यों?' नौकर तपाक से बोला, 'उस दिन भी प्रशंसा मैंने नहीं की थी और आज भी निंदा नहीं कर रहा हूँ। तब भी प्रशंसा आप ही ने करवाई थी और आज निंदा भी आप ही करवा रहे हैं। मैं आपका नौकर हूँ, बैंगन के भुर्ते का नहीं। मेरा काम तो मालिक की आज्ञा मानना है।'

नौकर, नौकर है और मालिक मालिक। नौकर मालिक के लिए है। हमारे

चेतना का विकास : श्री चन्द्रप्रभ/२३

भीतर बैठा हुआ चित्त का स्वामी जैसा आदेश देता है, हम वैसा ही करते हैं। अगर चित्त का स्वामी मधुशाला जाने का आदेश देता है, यह मधुशाला के ख्वाब देखता है। मंदिर जाने की इच्छा होती है तो मंदिर के स्वप्न देखता है।

भीतर के स्वामी में इतनी विकृतियाँ हैं कि यह प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। हम हमेशा यही सोचते हैं (जो बहुत बड़ी भूल है) कि मन से परेशानियाँ उत्पन्न होती हैं इसलिए मन को एकाग्र करो, मन को टिकाओ, इसे साफ करो। मन तो वेचारा नौकर है। उसे कहाँ साफ करोगे? यह मन कोई दर्पण नहीं है, जिसे धो-पौछ लो। दर्पण तो वह चित्त है जहाँ शुद्धि और अशुद्धि की सम्भावनाएं हैं। जहाँ शुभ-अशुभ, मंगल-अमंगल, धर्म-अधर्म की समस्त सम्भावनाएं छिपी हुई हैं। इसलिए चित्त को शुद्ध करना है। चित्त को शुद्ध करने के लिए ही ध्यान के प्रयोग हैं।

इस संकल्प के साथ हमें ध्यान में प्रवेश करना है कि मैं अपने चित्त को शुद्ध करने के लिए ही ध्यान का प्रयोग कर रहा हूँ। यदि आप इस संकल्प के साथ ईमानदारी से ध्यान में प्रविष्ट होते हैं तो निश्चित रूप से तीन दिन पश्चात् आप अपने ध्यान के पूर्व और ध्यान के पश्चात् वाले जीवन में स्पष्ट फर्क पाएंगे। मेरा विश्वास जीवन-रूपान्तरण में है। मेरे लिए दीक्षा का भी यही अर्थ है कि व्यक्ति का जीवन बदल जाए। चोटी खींचने का या वेश बदलने वाले संन्यास का मेरे लिए अधिक अर्थ (मूल्य) नहीं है। अगर ऐसा हो सके तो अहोभाग्य की बात! लेकिन, अगर जीवन बदल रहा है, हृदय साधु हो रहा है, जीवन स्वर्ग हो रहा है, इतना पर्याप्त है।

मन न रंगाए, रंगाए जोगी कपड़ा।

मन न रंगाया, सिर्फ कपड़े रंगते चले गए। प्रयास यह हो कि हमारा मन सम्यक्-दिशा स्वीकार करे। हमारी दमित इच्छाएं कभी भी उपभोग से पूर्ण नहीं होंगी वरन् उपभोग से वह बलवान और सशक्त हो जाएगी, एक अभ्यास आदत बन जाएगी और पता ही नहीं चलेगा कि कभी कोई इच्छा थी। इसलिए शोधन की, चित्त-शुद्धि की प्रक्रिया अपनानी होगी।

हम सुबह और शाम को जो ध्यान करेंगे उसका खास उद्देश्य यही है कि व्यक्ति के चित्त की शुद्धि हो, विकार हटें और अच्छी सम्भावनाएं जाग्रत हों। हमारे जीवन में आनन्द और खुमारी उमड़ पड़े। एक अहोभाव जग जाए। हम इतने पवित्र और निर्मल हो जाएं कि अपने और पराए का भेद मिट जाए। न अपने लिए बुरे-अच्छे रहें और न दूसरे के लिए बुरे-अच्छे रहें। एक स्थितप्रज्ञता

जग जाए, समकत्व-बुद्धि जग जाए, सामायिक-भावना जाग जाए, अपने-पराए का भेद मिट जाए। अपनेपन का भाव सबके साथ होने पर व्यावसायिकता समाप्त हो जाएगी। जैसा दूध हम अपने बेटे को पिलाएंगे वैसा ही बेचेंगे भी। ऐसा करने पर व्यवसाय भी शुद्ध धर्माचरण हो जाएगा।

ध्यान के द्वारा यही प्रयोग करना है कि अपने और परायेपन की भेद-रेखा मिट जाए। लालची और लोभी जो मिलावट की दवाएं बेचता है कभी भी अपने बीमार बेटे को मिलावटी दवाएं नहीं देगा। एक रिश्वतखोर दूसरे से रिश्वत ले सकता है लेकिन खुद के बेटे का सवाल आने पर रिश्वत न ले सकेगा। यही अपनेपन का भाव जब सबके लिए हो जाएगा तब व्यवसाय भी धार्मिकता में परिणत हो जाएगा। मेरे लिए आप सभी एक जैसे हैं, एक बराबर हैं, आत्म-मित्र हैं। कौन अपना और कौन पराया? ज्योति से ज्योति जलाते चलो, प्रेम की गंगा बहाते चलो। सबके लिए तुम्हारा प्रेम हो। तुम्हारे लिए प्रेम के पात्र भले ही बदल जाएं लेकिन तुम्हारा प्रेम अखण्ड, गंगा की तरह अविरल बहता रहे। प्रेम नहीं बदलना चाहिए। भेद की स्थिति बदल जाए, वह स्थिति जग जाए जिसे गीता स्थितप्रज्ञता कहती है, अनासक्ति कहती है।

यह सब सम्भव है, जो व्यावहारिक जीवन में घटित हो सकती है। हमारा मस्तिष्क, हमारी ऊर्जा और अधिक सक्रिय हो सकती है। केवल ध्यान की गहराइयों में डूबने की आवश्यकता है। हमारा प्रयास होना चाहिए कि अधिक सक्रियता आए, चित्त की शुद्धि हो, हमारे विकल्प निर्बल बनें और अच्छी सम्भावनाएं जाग्रत हों। मेरा प्रेम और मेरी शुभकामनाएं आपका साथ निभाए।

नमस्कार।

---

## प्रश्न समाधान



► *सांसारिक जीवन में क्या पूर्णतया चित्तशुद्धि सम्भव है?*

चित्तशुद्धि का सम्बन्ध न संसार से है न संन्यास से। यह हमारी दोहरी नीति है कि हमने जीवन को संसार और संन्यास के दो टुकड़ों में बांट दिया है। मेरे देखे तो हम न जाने कितनी बार संन्यासी या गृहस्थ हो जाते हैं और जिन्हें हम साधु-संत-संन्यासी मानते हैं वे भी अपने इस वेष में संसारी हो जाते हैं। जीवन का सम्बन्ध वस्तु से नहीं है, खूंटों को बदल लेने से भी नहीं है। जीवन का सम्बन्ध चित्त को शुद्ध करने से है। अगर संसार में रहते हुए चित्त निर्मल करके जीते हो तो संसार भी संन्यास है और संन्यासी होकर भी विकृत चित्त से जीते हो तो संन्यास भी संसार है।

भीड़ में रहकर भी एकान्त का आनन्द आ जाए तो भीड़ भी गुफा है, अन्यथा हिमालय में भी चले जाओगे तो वहाँ भी विचारों की आंधी, संसार के रागात्मक सम्बन्धों की आँधी वहाँ भी नहीं छोड़ेगी। इसलिए ऐसा मत सोचिए कि चित्तशुद्धि का सम्बन्ध संन्यास या संसार के साथ है।

चित्तशुद्धि का सम्बन्ध हमारे जीवन-मूल्यों के साथ है, अन्तर-निरीक्षण के साथ है। मनुष्य को निरन्तर प्रयास करते रहना चाहिए। जैसे आज आपने स्नान किया, दिन भर मेहनत की, पसीना आया, माटी लगी, कल फिर सुबह स्नान किया। यह सुबह स्नान का क्रम जैसे जीवन भर जारी रहता है, वैसे ही चित्तशुद्धि का उपक्रम भी जीवन भर जारी रहना चाहिए। हमें सतर्क रहना है कि हम चित्त में शुद्धता-पवित्रता रखेंगे। माना कि किसी के भीतर कोई विकार उठता है, लेकिन उसके मन में अगर मर्यादा बन गई है, एक संकल्प जग गया है पवित्रता के साथ, फिर वह डांवाडोल न होगा। तुम सोचते हो कि मेरी पत्नी ही सिर्फ मेरी पत्नी होगी शेष सभी नर-नारियाँ मेरे भाई या बहन होंगे, संकल्प के साथ, लेकिन सुन्दरता को देखते ही यह भाई और बहन न जाने कहाँ विलीन हो जाते हैं। ऐसा नहीं होना चाहिए।

चित्त की शुद्धता इसलिए जरूरी है रश्मि! ताकि हमारी दृष्टि पवित्र रहे, हमारे विकल्पों में अन्यथा-भाव पैदा न हों। भीतर और बाहर के जीवन में दोहरापन न हो, एकरूपता आ जाए। चित्त-शुद्धि से जीवन में समरसता आ जाए। इसलिए चित्तशुद्धि अनिवार्य है। हमारा तनाव कम हो, हमारे अन्दर आनन्द घटित हो, हमारे विकार कम हों, हममें पवित्रता आए। अगर ऐसा होता है तो एक समझदार आदमी गरीब होने के बावजूद अपने मस्तिष्क के संतुलन को बिगड़ने नहीं देता और दूसरा नासमझ व्यक्ति अमीर होने के बावजूद अपने मानसिक संतुलन को बिगाड़ देता है। यहाँ कितने ही व्यक्ति गरीब-अमीर होते हैं पर यह स्थिति नित्य, ध्रुव और शाश्वत नहीं है। सब चीजें बदलती रहती हैं। जो व्यक्ति विषम और विपरीत परिस्थितियों में भी अपने मानसिक संतुलन को बनाये रखता है, वहीं चित्त-शुद्धि है।

कल तुम गरीब थे और आज अमीर हो गए हो तो सबकी उपेक्षा करते हो। अपने को अलग समझते हो। कल जिनके साथ रहते थे, आज छोड़ चुके हो। पर मत भूलो आने वाले कल में फिर वही स्थिति आ सकती है। वह बीता हुआ कल दोहरा भी सकता है, वापस भी आ सकता है, पुनरावृत्ति भी हो सकती है। इसलिए किसकी उपेक्षा? सबके प्रति समानता, वही प्रेम का भाव, वही मैत्री-भाव। अगर ऐसा है हमारा विवेक, संजीवित-सक्रिय है तो हम विपरीत और अनुकूल दोनों परिस्थितियों में बहुत

चेतना का विकास : श्री चन्द्रप्रभ/२७



आनन्दपूर्ण रहेंगे। स्थितिप्रज्ञ होकर जिएंगे। हमारे मानसिक संतुलन में दुराव-भटकाव नहीं आएगा। प्रयास कीजिए जितने विकार कम हो सकें, हमें करते रहना चाहिए। जैसे आप मंदिर जाने के लिए प्रतिदिन स्नान करते हैं उसी तरह यह भीतर का भी स्नान है।

भीतर का प्रकाश प्रगट हो सकता है लेकिन कांच के गोले से ढंका हुआ प्रकाश जो कालिमा में छुपा हुआ है कालिमा के पोंछते ही प्रकाश बाहर तक आएगा। कालिमा कल फिर चढ़ेगी, कल फिर कांच को मांजना होगा। ध्यान इसीलिए है। यहाँ तो सिर्फ अभ्यास है, प्रवेश करवाया जा रहा है। ध्यान प्रतिदिन करना है। भीतर का स्नान, भीतर का जागरण, भीतर की शुद्धि प्रतिदिन होनी चाहिए। यही मनुष्य का कायाकल्प है। यही चेतना के विकास का फार्मूला है। चित्त-शुद्धि के लिये सदा सतर्क रहो। अधर्म की सम्भावना जीवन-भर रहती है, इसलिए धर्म का शिविर जीवन भर चलना चाहिए। यह शिविर चित्त-शुद्धि और चेतना के विकास का आयोजन है, तुम्हारे रचनात्मक निर्माण का, तुम्हारी मानसिक और चेतनागत ऊर्जा के विकास का उपक्रम है।

### ► तीव्र श्वासोश्वास के समय शरीर में कंपन क्यों?

मेरे प्रभु, अभी तो शरीर सिर्फ कंप रहा है। मन तो कंपता हुआ बहुत देखा, आज शरीर को कंपता हुआ देख रहे हो। अगर कोई व्यक्ति सरोवर में कंकरी फेंकेगा और आप कहो कि सरोवर आंदोलित नहीं होना चाहिए, यह कैसे सम्भव है? अपना अहोभाग्य समझिए कि कुछ तो कांपा, चित्त न सही शरीर ही सही। आज शरीर कांपा है कल चित्त भी कांपेगा। वह भी हिलेगा-डुलेगा और कांपना ही चाहिए। यह तो एक प्रसव-पीड़ा से गुजरना है। हमारे भीतर जो बालक सोया हुआ है उसे बाहर लाना है। सारे पुरुषों को माँ होना है और मैं इसी कोशिश में हूँ। आप को अभी तक माँ होने का कोई अनुभव नहीं है। महिलाओं को अनुभव है। इसलिए मैं आपके सोए हुए मातृत्व को जगाना चाहता हूँ। भीतर के शैशव को, भीतर की खुमारी को, आनन्द को जगाना चाहता हूँ। अपने भीतर अपने ही प्रयासों से कुछ पैदा करना स्वयं का सृजन है। अन्तर्जगत् में अनुभवों का निष्पन्न होना मनुष्य के लिए उसका अन्तर्-प्रसव ही है।

बाईबिल कहती है, प्रभु बच्चों को मिलते हैं, बच्चों में प्रवेश करते हैं, बच्चों

में रहते हैं। हमारे शैशव में प्रभु है। जब कोई इतना बड़ा होकर अपने शैशव को फिर से पा लेता है तो उसके हृदय पर परमात्मा का अवतरण हो जाता है। कोई प्रसव-पीड़ा से गुजरे और छटपटाहट न हो, आवाज न निकले, यह कैसे सम्भव है? जी भी घबराएगा, दिमाग में खिंचाव भी होगा लेकिन गुजरना तो पड़ेगा। बिना गुजरे कोई भी व्यक्ति मां नहीं हो सकता। भीतर की संतान को पैदा करने के लिए इस प्रसव-पीड़ा को सहना होगा। भीतर के शून्य में उतरना होगा, आसमान में उड़ना होगा। संभव है आने वाले कल में आप खूब चीखें-चिल्लाएँ - मैं गधा हूँ, मैं हाथी हूँ, न जाने क्या-क्या कह बैठें। इस पशुत्व को ही तो पहचानना है। यह भी आत्मज्ञान का एक चरण है। जैसा कि कल भी तुमने देखा था।

भीतर के अज्ञान और पशुता को पहचानना ही जीवन-निर्माण का पहला कदम है। बगैर पशु की पहचान के वास्तविक मनुष्य का जन्म ही नहीं है। इसलिए शरीर कंपता है कंपने दीजिए। हाँ, आज शाम को आप खड़े होकर ध्यान कीजिएगा, तब आप नाचेंगे। मीरा भी नाची थी, चैतन्य और सूर भी नाचे थे। जब तक अहोनृत्य न जगा, तब तक ध्यान से क्या गुजरे! मेरे आपको बहुत-बहुत प्रणाम हैं कि पहले ही चरण में आप कुछ हिले, कुछ कंपे। एक छोटी सी कंकरी ने सारे तालाब को आंदोलित कर दिया। धन्यभाग उस कंकरी का, जिसने जगाया, तालाब को आंदोलित किया।

### ➤ *आत्मा और चित्त क्या है?*

चित्त चेतना से सक्रिय होता है और चेतना का मूल स्रोत हमारी अपनी आत्मा है। आत्मा अर्थात् हमारे जीवन की ऊर्जा, हमारा अपना जीवन, जीवन की शक्ति और प्राण। चित्त का तो धीरे-धीरे विकास होता है। चित्त का निर्माण आत्मा के साहचर्य के साथ होता है। लेकिन जैसे-जैसे चित्त के परमाणु समाप्त होते चले जाते हैं, चित्त ठंडा हो जाता है, शांत हो जाता है और आत्मा जाग्रत हो जाती है। चित्त जब दबता है, ठंडा पड़ता है तब जो चेतना जाग्रत होती है, हमारी आत्मा सक्रिय होती है। इसे हम अपने मस्तिष्क के अग्रभाग में उसकी संवेदना को सहज रूप से अनुभव कर सकते हैं। अपने भीतर उभरते शून्य में, स्वयं के आकाश

चेतना का विकास : श्री चन्द्रप्रभ/२६

में सब कुछ अनुभव कर सकते हैं।

चित्त और आत्मा के मध्य अधिक दूरी नहीं है। चित्त का निर्माण पौद्गलिक होता है लेकिन आत्मा का सम्बन्ध जीवन्त ऊर्जा के साथ होता है। जैसे अंगूरों को सड़ाकर शराब बनाते हैं तो उसमें नशा अपने आप आता है ठीक वैसे ही शरीर के निर्माण के साथ मन व चित्त का निर्माण स्वयमेव हो जाता है।

कर्म-विज्ञान जिसे कर्म की प्रकृति कहता है योगविज्ञान और मनोविज्ञान उसे चित्त (साइक) कहता है। मनुष्य के मन की चेतन और अचेतन दो स्थितियाँ होती हैं। अचेतन-मन चित्त और चेतन-मन मन है। दिन भर उठने वाले विचार चेतन मन है और रात्रि में जो स्वप्न देखते हैं वह अचेतन मन की सक्रियता है। इस चेतन और अचेतन मन को जहाँ से चेतना प्राप्त हो रही है, इन सारे तारों में जिस केन्द्र से विद्युत प्रवाहित हो रही है वह 'आत्मा' है। शब्द गौण है अस्तित्व मुख्य है। आत्मा वह तत्त्व है, जो जीवन की मूल सचाई है, जिसके रहते हम जीवित हैं और जिसके निकल जाने के बाद हम मृत हो जाते हैं।

वह तत्त्व आत्मा है जिसे हम 'मैं' कहते हैं। मैं का वाच्यार्थ ही 'आत्मा' है। हमारे भीतर रहने वाला जो तत्त्व यह जानता है कि 'यह सुख और यह दुःख' वही तत्त्व आत्मा है। आत्मा को यह ज्ञान चित्त, मन, इन्द्रिय, मस्तिष्क, स्नायु तंतु, हमारी ग्रंथियाँ, मेरुदण्ड की सक्रियता (काम करने) से होता है।

आत्मा अंधविश्वास नहीं, विश्वासों का विज्ञान है। आत्मा वह चेतना है, जिसमें पदार्थ, प्रकृति और जीवन के रहस्यों को खोजने की ललक है। आत्मा यानी तुम स्वयं यानी वह जो जीवन को 'जीवन' बनाये रखता है। बगैर आत्मा का जीवन, जीवन नहीं मुर्दा है, बगैर परिदे का पिंजरा है।

इसलिए बेहतर होगा इस ध्यान-शिविर में आप अपने ध्यान को केन्द्रित कीजिए। हो सकता है प्रायोगिक रूप में आपको अहसास हो जाए कि मन के पार भी कोई चीज है। कोई सत्ता है जहाँ से ये संवेग आ रहे हैं। जब वे संवेग शान्त होंगे, चित्त शांत होगा तब आपको अपनी चेतना का स्पंदन अनुभव होगा। स्वयं की चैतन्य-स्वरूप में प्रतिष्ठा होगी। अनुभूति पर अधिक बल दीजिए और अधिक प्रयास कीजिए। जीवन के अन्तर-

विद्यालय में अनुभवों का महत्व है। चैतन्य-स्थित होकर इस पृथ्वी ग्रह पर जीना ही हमारे जीवन का उद्देश्य होना चाहिये।

► *ध्यान करते समय आंसू क्यों आए?*

वे भीतर की कसक और पीड़ा के आंसू हैं। इन आंसुओं की कसक में बहुत प्रसन्नता और आनन्द है। जब भीतर उमड़ने वाले किसी विचार को, भाव को, जुबान के द्वारा व्यक्त नहीं कर सकते, जुबान बंद हो जाती है आंसुओं के द्वारा आँखें बोलने लगती हैं। जब दिल भर आता है या आत्मा बहुत पुलकित हो जाती है तब आँखें उमड़ आती हैं, भर जाती हैं।

ये आंसू अहोभाव के हैं। ये आंसू भीतरी संवेगों से उत्पन्न हुआ तत्त्व है। भीतर की ऊर्जा जब मस्तिष्क के तंतुओं को सक्रिय करती है, उनकी ग्रंथियों का स्पर्श करती है, तब मस्तिष्क के आंसुओं की थैली भी सक्रिय हो जाती है और वे बाहर उमड़ कर आते हैं। सब कुछ चार्ज (सक्रिय) हो जाता है। ये आंसू अहोभाव के, पवित्रता के, भीतर के कषाय के निकलने के प्रतीक हैं। ये आंसू प्रायश्चित के भी हो सकते हैं लेकिन मेरे लिए ये आंसू अहोभाव के हैं। ये आंसू आपको नया बना रहे हैं। नहला रहे हैं, निर्मल कर रहे हैं। तुम्हारे इन आंसुओं के मोतियों को मैं स्वीकार करता हूँ और अपनी अहोकामना को समर्पित करता हूँ। मेरे प्रभु! तुम्हें मेरे प्रणाम हैं। धन्यभाग जो अहोभाव के आंसु उमड़े।

# 3

## चेतना का ऊर्ध्वरोहण

मेरे प्रिय आत्मन्,

**हमारा** जीवन हमारे लिए तानपूरे का संगीत है। जीवन अगर संगीत नहीं है तो संगीत बनाया जा सकता है। तानपूरे के तारों को साधने की कला आ जाए तो हरेक तानपूरे से संगीत पैदा कर सकता है।

दुनिया में दो किस्म के लोग हैं एक तो वे जो जीवन के तारों को बहुत ज्यादा कसने में विश्वास रखते हैं, दूसरे वे जो इन तारों को बहुत ज्यादा ढीला रखते हैं। कुछ लोग ऐसे धर्म के मार्ग पर चलते हैं जो उन्हें पूरी तरह अस्थि-कंकाल बना दे। दूसरे वे लोग हैं जो धर्म का ऐसा मार्ग चुनते हैं जिससे उमर खय्यामी जिन्दगी का निर्माण होता है। खाओ-पिओ, मौज उड़ाओ। उनका जीवन हिप्पी कट होता है।

जीवन-मूल्यों की दृष्टि से दोनों ही परम्पराएं, दोनों प्रकार के लोग चूक रहे हैं। कई लोग ऐसे हैं जो इतनी अधिक तपस्या, इतने अधिक उपवास करते हैं कि उनका शरीर सूखकर कंकाल हो जाता है। चलने की शक्ति नहीं रहती, उठने-बैठने का बल नहीं रहता, बस पड़े हैं।

बात-बात में चिड़चिड़ा जाते हैं, क्रोध करते हैं, अहंकार प्रगट करते हैं। ऐसे में उनसे पूछो तुम क्या कर रहे हो, कहेंगे तपस्या कर रहे हैं।

तपस्या किस चीज की हो रही है? तन की? मन की तपस्या तो कहीं नहीं होती, सिर्फ तन की ही तपस्याएं हो रही हैं। परिणामतः जीवन के तानपूरे के तार इतने अधिक कस जाते हैं कि उसकी तपस्या से आनन्द प्रगट नहीं होता वरन् क्रोध प्रगट होने लगता है। इसलिए सबसे महान् आश्चर्य कि तपस्या करने वाले अक्सर क्रोधी होते हैं। वे अधिकांशतः चिड़चिड़े स्वभाव के होते हैं।

में तपस्या के विरोध में नहीं हूँ। मेरे लिए तपस्या बहुत सार्थकता रखती है, लेकिन वह तपस्या जिससे हमारे जीवन-मूल्यों का निर्माण होता हो। जिससे हमारे मन की छटपटाहट कम होती हो। जिससे हमारे क्रोध और उत्तेजना के संवेग समाप्त होते हों वह तपस्या, तपस्या है।

यदि कोई भिखारी तुमसे पैसे मांगता है तो तुम यह कहकर कि इससे भीख मांगने की आदत पड़ती है, पैसे नहीं देते हो। कहते हो कि वह कमाकर खाए। जब वही कमाकर खाता है, मूंगफली बेचता है और तुम्हारा बेटा उससे मूंगफली खरीदना चाहता है, तब भी तुम मना कर देते हो कि अरे यह काला है हब्शी जैसा, इसके हाथ गंदे हैं। कमाकर खाता है तब भी तुम्हें स्वीकार नहीं और भीख मांगता है वह भी स्वीकार नहीं। तपस्या वहाँ होती है जहाँ दोनों के प्रति तटस्थ-दृष्टि/स्थित-प्रज्ञा होती है। जब दोनों के प्रति समानता है तभी तपस्या सार्थक है।

चौबीस घंटे भोजन न करके स्वयं को तपस्वी समझते हो, तो ठीक है। कभी-कभी उपवास करना शरीर के लिए लाभदायक है। लेकिन महावीर ने या अर्हत्-पुरुषों ने ऐसी तपस्या करने के लिए कभी नहीं कहा जिसमें तुम दिन-रात क्रोध करते रहो और तन को सुखाते चले जाओ। चिड़-चिड़ भी करते रहो और तप भी।

तप ज्ञान मूलक होना चाहिए अज्ञान मूलक नहीं। अज्ञानमूलक तप हो, तो स्वयं पाशर्वनाथ जाते हैं और कमठ से कहते हैं तुम्हारी तपस्या तुम्हें नर्क में भी ले जा सकती है। आखिर उपवास वह भी कर रहा था। अज्ञानमूलक की गई तपस्या मनुष्य के लिए बंधनकारी होती है और ज्ञानमूलक की गई क्षणभर की तपस्या भी व्यक्ति के लिए मुक्ति का निमित्त बनती है।

वह तपस्या जो हमारे शरीर को सुखाये, तानपूरे के तारों को अधिक कसे तो बहुत कटु-कर्कश आवाज आएगी। उस कर्कश ध्वनि को कोई भी सुनना पसंद नहीं करेगा। दीपराग या मल्हार राग को छेड़ने के लिए तानपूरे को साधना होगा।

चेतना का विकास : श्री चन्द्रप्रभ/३३

जीवन के तानपूरे के तारों को न तो अधिक कसो और न अधिक ढीला छोड़ो। यदि ढीला छोड़ा तो जीवन असंयम के मार्ग पर जाकर सिर्फ प्रवृत्ति ही प्रवृत्ति के मार्ग से गुजरते हुए न जाने किस गड्ढे, खंडहर या नाली में डुबा देगा। इसलिए तारों को साधना है।

यह ध्यान-शिविर आपको तारों को साधने की कला सिखाता है। ध्यान-शिविर आपको भगवान नहीं बनाता लेकिन इन्सान जरूर बनाता है। इन्सान पूरी तरह इन्सान बन जाए यही जीवन का महान् धर्माचरण होगा। तुम जैन, हिन्दू या मुसलमान बनो या न बनो, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। महत्वपूर्ण यह है कि तुम एक अच्छे आदमी बने या न बने। एक अच्छा आदमी स्वतः ही अच्छा जैन, अच्छा हिन्दू या अच्छा मुसलमान बन जाएगा।

अच्छा इन्सान वही बनता है जो दोनों अतियों को छोड़ देता है। मध्यमार्ग, बिल्कुल रस्सी पर नृत्य करने वाले नट की तरह। जो दायें और बायें संतुलन बनाए रखता है। जीवन में भी दोनों ओर संतुलन चाहिए, समन्वय चाहिए, सामायिक चाहिए। संतुलन ही संयम है या यह कहिये कि संयम ही संतुलन है। हमारी आदत अतिवादिता की है। संसार में जाते हैं तो पूर्ण भोग की सामग्री के लिए प्रेरित किया जाता है और अगर किसी धर्मस्थान में जाते हैं तो पूर्णतया त्याग करने की बात की जाती है। ऐसी स्थिति में मनुष्य दोहरेपन में जीता है। वह कभी 'यह' और कभी 'वह' की दुविधा में फंस जाता है। स्थितियाँ बदलती रहती हैं। उसकी मनोदशा आत्मघातक हो जाती है। भीतर से और बाहर से मनुष्य के दो टुकड़े कर उन्हें आपस में संघर्षरत रखती है।

इतने अधिक कसो मत निर्मम, वीणा के हैं कोमल तार,  
टूट पड़ेंगे वे सब के सब, कभी न निकलेगी झंकार।  
इतने अधिक करो मत ढीले, वीणा के रसवंती तार,  
कोई राग नहीं बन पाए, निष्फल हो स्वर का संसार।।

अपने जीवन की वीणा के तारों को इतना भी मत कसो कि ये तार ही टूट जाएं या इतना ढीला भी मत छोड़ो कि स्वर का संसार, संगीत का साम्राज्य ही खो जाए।

भगवान बुद्ध ने तीस वर्षों तक निरन्तर साधना और तपस्या की लेकिन जब उन्हें परम ज्ञान घटित होने को आया तब पनिहारिन के द्वारा गाई गई यही पंक्तियाँ बुद्ध के लिए परम ज्ञान का निमित्त बनती हैं। अपनी वीणा के तारों को

चेतना का ऊर्ध्वारोहण/३४

बहुत अधिक मत कसो और न ही बहुत अधिक ढीला छोड़ो अन्यथा तुम बाहर से बड़े ज्ञानी हो जाओ या बड़े स्वाध्यायी बन जाओ या बड़े आध्यात्मिक कहला लोगे लेकिन प्राप्त कुछ न कर पाओगे। अन्तर्जगत् पर रूपान्तर की मुहर नहीं होगी। चेतना के सृजन के नाम पर शून्य रहोगे।

तानपूरा प्रेरक है कि हमारे जीवन के तार भी सध जाएं। मैं कहना चाहता हूँ कि अपने तानपूरे के तारों को न तो अधिक कसो और न अधिक ढीला छोड़ो। अगर अधिक कसोगे तो तनावग्रस्त हो जाओगे। जो मस्तिष्क में जीते हैं, वे बड़े तनाव में जीते हैं क्योंकि उनके तानपूरे के तार बहुत कसे हुए हैं। इतने ज्यादा कस गए हैं कि उनके दिमाग में सिवा तनाव के और कुछ है ही नहीं। इतने तनाव में, घनघोर तनाव में जीते हैं कि रात को नींद भी नहीं आती। अगर रात को नींद नहीं आती हो तो दो मिनट के लिए अपने दिमाग से तनाव को भुला दीजिए, यह स्वीकार करते हुए कि मैं शून्य में डूब रहा हूँ। शून्य को स्वीकार करते हुए दिमाग ढीला छोड़िए। आप पाएंगे कि आप तनावमुक्त हो रहे हैं और नींद आ जाएगी। दो मिनट में ही नींद आ जाएगी। एक घंटा करवटें नहीं बदलनी पड़ेंगी। जैसे ही दिमाग से तनाव दो मिनट के लिए कम हुआ, तत्काल प्रसन्नता उभरी; नींद लेना चाहते हो तो नींद आ जाएगी या किसी कार्य को करना चाहो तो वह कार्य सहजता से हो जाएगा।

मनुष्य मस्तिष्क में जीता है। अधिक मस्तिष्क में जीना, विकल्पों की उधेड़तुन में खोये रहना ही तनाव का कारण है। हमारे तनाव का सम्बन्ध अपने ही मनोमस्तिष्क के साथ है। दिन-रात मन और मस्तिष्क का उमड़ना-धुमड़ना ही व्यक्ति के लिए तनाव है। मनुष्य के जीवन का मूल आधारभूत तत्त्व मस्तिष्क नहीं है। अगर व्यक्ति का मस्तिष्क उसके हृदय में तिरोहित/विसर्जित हो जाए या संयुक्त/संस्पर्शित हो जाए, तो दिमाग का आधा तनाव तत्काल समाप्त हो जाए।

अभी तक यही समझा जाता रहा है और मनोविज्ञान भी यही समझता है कि मनुष्य का मूलभूत आधार-तत्त्व मस्तिष्क है, जबकि ऐसा नहीं है। जीवन का निर्माण कभी भी मस्तिष्क से नहीं होता अपितु नाभि से होता है। गर्भकाल में पहले मस्तिष्क पैदा नहीं होता, नाभि से जीवन का निर्माण होता है। नाभि केन्द्र है। जब बच्चा गर्भकाल में रहता है तब वह भोजन मुंह से नहीं, नाभि से करता है। इसलिए बच्चे के पैदा होते ही मां से जुड़ा हुआ नाभि का सम्बन्ध काट दिया जाता है। और सम्बन्ध के कटते ही भोजन प्रारम्भ होता है मुंह से। यह जीवन की कितनी बड़ी सच्चाई है कि जीवन का निर्माण न तो मुंह से होता है और न



मस्तिष्क से, जीवन का निर्माण सदा नाभि से होता है। नाभि तुम्हारा जीवन है, उत्स है, बीज से फूटने वाला पहला अंकुर है।

जब हम ध्यान करते हुए नाभि तक, नाभि-कमल तक ध्यान केन्द्रित करते हैं तो इसलिए क्योंकि वहाँ से हमारे जीवन का निर्माण हुआ है और जो कमल आज सोया हुआ है वह कमल पुनः जाग्रत हो जाए। अगर नाभि-चक्र जागता है तो शरीर के सभी तंत्र सक्रिय और क्रियान्वित हो जाते हैं। नाभि का जगना जीवन का जगना है। इसीलिए नाभि का जगना इतना महत्व रखता है।

नाभि और मस्तिष्क के मध्य एक अन्य महत्वपूर्ण केन्द्र हमारा हृदय है। नाभि के नीचे योग की भाषा में जिसे स्वाधिष्ठान-चक्र कहते हैं सरल भाषा में उसे नीचे का ऊर्जाचक्र कह सकते हैं, ध्यान के द्वारा उसे सक्रिय किया जाता है और प्रयास किया जाता है कि वह जगकर हमारे हृदय का स्पर्श कर जाए। यदि नीचे का स्वाधिष्ठान चक्र ऊपर तक संवेदनशील हो जाए कंठ (विशुद्धि चक्र/कंठ मणि) तक स्पर्श कर जाए तो यह हमारी जीवन ऊर्जा का, हमारे स्वाधिष्ठान-चक्र का उदात्तीकरण होगा।

मनोविज्ञान जिसे उदात्तीकरण कहता है, योग की भाषा में वह ऊर्ध्वारोहण है। नीचे की चेतना का ऊपर की ओर ऊर्ध्वारोहण हो जाना और ऊपर के तनाव का नीचे की ओर गिर जाना, इसी का नाम जीवन में योग-विशुद्धि है।

यदि आपके मस्तिष्क में तनाव है, बोझ है, दो मिनट के लिए आराम से बैठ जाइए और अपने मस्तिष्क को नीचे हृदय की ओर झुका दीजिए, लगेगा तनाव अपने आप थम रहा है। जो तूफान दिमाग में उठ रहा था वह मन्द पड़ रहा है। यह सहज रूप से होगा, बिल्कुल सहजता से। जब भी मनुष्य अपने मस्तिष्क को छोड़कर हृदय में प्रविष्ट होता है, उसका तनाव समाप्त हो जाता है। हमारे जीवन का परमात्मा भी मस्तिष्क में नहीं, हृदय में रहता है। श्रद्धा, प्रेम, करुणा सभी का निवास-स्थान हृदय है।

मनुष्य कभी भी क्रोध हृदय से नहीं करता लेकिन प्रेम! प्रेम तो बिना हृदय के सम्भव ही नहीं है। क्रोध, राग, द्वेष में सदा मन सक्रिय होता है लेकिन प्रेम, अहिंसा, करुणा, भाईचारे के मार्ग पर हृदय सक्रिय होता है। मनुष्य का हृदय जितना अधिक सक्रिय होगा वह उतना ही पवित्र और धर्मात्मा होगा और मन की अधिक सक्रियता में वह तूफानी बनेगा।

क्रोध किया मन ने काम किया। प्रेम किया, हृदय भर आया। जो दिल

को भा जाए वही ठीक। यदि अप्सरा भी हो मगर दिल को पसन्द न आए तो उसका क्या अर्थ? मन तो हजार बातें सोचता है लेकिन हृदय! वह तो जहाँ टिका, बस टिक गया। लगा तो लगा ही रहा, सोचने का काम मन का है, स्वीकार करने का काम हृदय का है। हमारे जीवन का केन्द्र-बिन्दु हमारा हृदय है। किन्तु मन के सामने तो भौगोलिक नक्शे भी छोटे पड़ जाते हैं, इतना बड़ा साम्राज्य है मन का। मन अगर हृदय हो जाये और हृदय अगर फूल जैसा खिल जाये, तो साधना पूरी हो गई। हृदय का खिलना ही समग्रता है। खिला हुआ हृदय ही जीवन का आनन्द है।

मन का साम्राज्य अत्यन्त विस्तृत है। मन से अधिक संहारक शस्त्र कोई नहीं है। इसी मन के सामने दुनिया के सभी शास्त्र बौने हो जाते हैं। यह काट भी सकता है और तार भी सकता है। यदि मन सम्यक दिशा प्राप्त कर ले तो अपनी प्रचण्ड ऊर्जा के द्वारा जीवन की महान सम्भावनाओं को आत्मसात् करवा सकता है। इतनी महान सम्भावनाएं कि आदमी अपनी उन सम्भावनाओं को देखकर खुद ही दंग रह जाए। अगर अच्छी सम्भावना जग गई तो अशोक और गांधी बन जाओगे और बुरी-ही-बुरी सम्भावनाएं जगती रहीं तो स्टेलिन और हिटलर हो जाओगे। अच्छी और बुरी सम्भावना ही तो नारी में माँ और प्रेमिका का रूप दिखाती है। हमारे भीतर दोनों प्रकार की सम्भावनाएं हैं।

मन की तो दो ही भूमिकाएं होती हैं एक तन्मयता और दूसरी व्यग्रता। जब मन तन्मयता से गुजरता है तो हृदय हो जाता है और व्यग्रता से गुजरने पर मन, मन हो जाता है। व्यग्रता को तन्मयता में बदला जा सकता है।

रसमयता पहला सूत्र है। दूसरा सूत्र मन का निरीक्षण करते रहना है। अगर मन से अलग होकर मन का प्रतिदिन पन्द्रह मिनट निरीक्षण करो, तो मन की व्यग्रता, उद्विग्रता शांत होगी। तीसरा सूत्र है अपने व्यग्र मन को प्यार की, मैत्री की, मस्ती की भाषा सिखाओ। किसी और के क्रोध को अपने लिए कसौटी समझो और अपने भीतर क्रोध न हो, इसके लिए मन को प्रेम की भाषा सिखाओ। शांति से बोलने और सोचने का पाठ पढ़ो।

मन तुम्हारे कहने में नहीं चलता है, इसका मतलब है तुम मन को सही ढंग से समझा न पाये। मन किसी की याद में तड़पता रहे, मन दिन-रात बेमतलब सोचता रहे, झट से उब्दीग्न, व्यग्र या कुंठित हो उठे, तो यह हमारा आन्तरिक गंवारूपन है।

आखिर यह मन क्या है? हमारे भीतर की चेतना जो बाहर की ओर

चेतना का विकास : श्री चन्द्रप्रभ/३७

प्रवाहित होती है वही मन है। मन का अर्थ है संकल्प-विकल्प करना, स्मृति और चिन्तन करना, और कल्पना करते रहना। संकल्प का अर्थ है वाह्य पदार्थों के प्रति ममत्व का जगना। विकल्प का अर्थ है - मैं सुखी, या दुःखी हूँ, आह! मुझे पीड़ा है - यही विकल्प है। अतीत की बातों को याद करना स्मृति है। भविष्य के बारे में सोचते रहना कल्पना है। अपने वर्तमान की अनुप्रेक्षा करना चिन्तन है। मन का सम्बन्ध त्रैकालिक है। वह अतीत, भविष्य और वर्तमान से जुड़ता रहता है। यदि मन अतीत से जुड़ता है तो वह चित्त से जुड़ जाता है। भविष्य की कल्पना करने पर वह बुद्धि के साथ सांयोगिक होता है। जब मन चिन्तन करता है, वर्तमान में जीता है तो मन की समाप्ति हो जाती है सिर्फ बुद्धि सक्रिय रहती है।

हमारे भीतर की, चेतना की ऊर्जा जब चित्त से संयुक्त होती है तो अतीत की कल्पनाएं उठेंगी, बीती हुई बातों की याद आएगी। जब मन भविष्य के साथ जुड़ेगा तो हम सिर्फ कल्पना करते रह जाएंगे। मन आलोचनात्मक होता है, त्रैकालिक होता है। जो वर्तमान की विपश्यना करता है, अनुप्रेक्षा करता है, वही व्यक्ति मूलतः अपने आप में जी सकता है। बीत गया सो बीत गया और जो नहीं आया उसके लिए फिकर किस बात की? लाख कोशिशों के बाद भी बीता हुआ समय वापस नहीं आता। रूठा हुआ देवता तो मनाया जा सकता है लेकिन गया हुआ वक्त कभी वापस नहीं आता। जो चीज लौटकर नहीं आती उसके लिए क्यों स्वयं को इतना लगाना? बीता, सो, गया। जो आया ही नहीं, जो अभी खुद ही, होनी के गर्भ में है, उस कल के बारे में क्या इतना सोचना? हम सोचेंगे, सार्थक करेंगे अपने वर्तमान को। जो अपने वर्तमान को सार्थक करता है उसका भविष्य भी सार्थक होता है। जिसका वर्तमान ही निष्फल है वह भविष्य कैसे सार्थक कर पाएगा? जिसने अपने वर्तमान को स्वर्ग न बनाया वह क्या मरकर स्वर्ग जा पाएगा? जो जीता ही नर्क में है वह मर के स्वर्ग पाए यह मुश्किल है।

जीवन को स्वर्ग बनाना होता है, धरती का मन्दिर बनाना होता है, तानपूरे का संगीत बनाना होता है। न अतीत, न भविष्य; हम जिएंगे वर्तमान में। हमें जो जीवन मिला है उसे अभी, आज और पूर्ण अहोभाव के साथ जिएंगे। हम जितने अधिक अहोभाव के साथ जिएंगे उतना ही हमारी लेश्याओं का शुद्धिकरण होगा।

स्वर्ग-नर्क, धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य इनका सम्बन्ध मरने के बाद नहीं, हमारे जीवित रहते है। मरने के बाद स्वर्ग में जाएंगे या नर्क में, यह हम नहीं जानते,

लेकिन इतना तो पता है कि आज दुनिया नर्क में जी रही है। यदि इस जीवन को स्वर्ग बना सकें तो बहुत बलिहारी होगी। वर्तमान जीवन को स्वर्ग बनाना महान कृतपुण्यता होगी। मरने के बाद तो सब कुछ माटी में समा जाएगा। जो होना होगा सो होगा। भविष्य को अगर स्वर्ग बनाना है, मरणोपरान्त स्वर्ग पाना है तो वर्तमान को स्वर्ग बनाना होगा, जीते-जी स्वर्ग को उपलब्ध करना होगा।

धर्म जीवन्त होना चाहिए, पूरी तरह से चैतन्य होना चाहिए। स्वर्ग और नरक चित्त के ही अलग-अलग टापू हैं। चित्त की संस्कार-धारा के साथ स्वर्ग और नरक भी साथ-साथ चलते हैं जन्म-जन्मांतर से, जन्म-जन्मांतर तक। चित्त का लेश्यामंडल, मनुष्य का भावमंडल निर्मल हो, भीतर का स्वर्ग और भीतर का मंदिर ईजाद हो, ध्यान करने के पीछे यही हेतु है। लेश्यामंडल के वर्तुलों को, उसके रंगों को पहचानने के लिए ही नासाग्र पर दृष्टि-ध्यान करने की बात कहता हूँ।

नासिकाग्र पर दृष्टि का केन्द्रीकरण महान साधना है और अत्यन्त वैज्ञानिक है। जब कोई व्यक्ति दृष्टि को नासिकाग्र पर केन्द्रित करता है अत्यन्त गहराई के साथ, तो जिसे मनोविज्ञान ने, फ्रॉयड ने ऑरो कहा है, जो किरलियान फोटोग्राफी के द्वारा प्राप्त होता है, वह ऑरो किसी मशीनी यंत्र में नहीं हमारी अपनी दृष्टि में है। जब हम अत्यन्त गहराई और एकाग्रता के साथ नासिकाग्र पर दृष्टि केन्द्रित करेंगे तो वहाँ एक वर्तुल घूमता हुआ दिखाई देगा। हम पहचानेंगे कि हमारा रंग कितना साफ है या कितना कल्मष भरा है।

महावीर ने एक अच्छा शब्द दिया, लेश्या। पंतजलि ने जिसे वृत्ति कहा, महावीर उसी को लेश्या कहते हैं। लेश्या का अर्थ होता है जो घेर ले, हम पर हावी हो जाए, जो हमें आश्लिष्ट कर ले। व्यक्ति की वृत्ति, लेश्या जितनी निर्मल होती चली जाती है, विकार-विहीन होती चली जाती है उतनी ही अधिक विशुद्धि और पवित्रता हमारी चेतना में आती है।

लेश्याएं शुद्ध और अशुद्ध दोनों प्रकार की होती हैं। लेकिन शुद्धता लेश्याओं से मुक्ति नहीं है। लेश्याओं का सम्बन्ध रंग के साथ जोड़ा जाता है। वे काली, नीली, कबूतरी, गुलाबी, पीली और सफेद होती हैं। ध्यान-शिविर में यह जो श्वेत वस्त्रों का प्रावधान है, हालांकि वेषभूषा अधिक महत्व नहीं रखती, लेकिन फिर भी श्वेत, जैसे शुक्ल लेश्या प्रतीक है कि लेश्याएं पवित्र और निर्मल होनी चाहिए, ऐसे ही हमारी पोषाक भी उतनी ही स्वच्छ और निर्मल होनी चाहिए। जैसे हम सफेद वस्त्रों पर छोटा-सा दाग भी स्वीकार नहीं करते हैं ठीक वैसे ही

चेतना का विकास : श्री चन्द्रप्रभ/३६

हमें यह प्रेरणा मिले कि हमारे भीतर भी जरा-सा दाग नहीं लगना चाहिए। वस्त्र तो प्रतीक हैं। उज्वल स्वयं को बनाना है। चित्त को शान्त करो और भीतर की शांति में उतरो। धरती को ऐसी ही शांति की जरूरत है, जो भीतर की शांति का प्रतिबिम्ब बने। धरती को भीतर की उज्ज्वलता चाहिये। भीतर की वह गहरी शांति धरा पर लायी जानी चाहिए।

नासिकाग्र पर दृष्टि केन्द्रित करके अपनी लेश्याओं को देखा जा सकता है कि आज हमारी स्थिति क्या है? हम अपनी वर्तमान स्थिति को ध्यान से जान सकते हैं। जब हम ध्यान में बैठते हैं तो अपने चित्त और मन का प्रवाह दृष्टि के द्वारा नाक पर केन्द्रित करते हैं। हमारा रंग और रोशनी भीतर की चेतना के द्वारा नाक पर आती है तब हमें पता चलता है कि इस समय हमारा आभामंडल (ऑरो) कैसा है! हमारी चेतना की स्वच्छता, पवित्रता कैसी है। यह एक प्रकार की किरलियान फोटोग्राफी हुई जो हम अपनी ही नासिकाग्र पर देख सकते हैं। अपनी गहरी होती दृष्टि से अपनी ही पहचान।

सुबह जब सोकर उठते हो तो ध्यान से देखो तुम्हें अपने चारों ओर किरणों का समूह, एक आभामंडल दिखाई देगा। हम महान संतों रहीम, कबीर और महावीर, बुद्ध के पीछे एक आभामंडल घूमता हुआ देखते हैं। यह प्रतीकात्मक है। आज का विज्ञान तो कहता है यह आभामंडल पेड़-पौधों के आसपास भी देखा जा सकता है। आभामंडल का अर्थ है हमारी वह चेतना जो हमारे शरीर के रोम-रोम से बाहर की ओर बहती है। जिस प्रकार शरीर के छिद्रों से बाल निकलते हैं, पसीना बहता है उसी प्रकार ऊर्जा भी बाहर प्रवाहित होती है और हम जान जाते हैं कि हमारी चेतना की कैसी स्थिति है। यह अत्यन्त वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है।

जब हम अपनी दृष्टि को नासिकाग्र पर केन्द्रित करते हैं तब श्वांस के द्वारा हम धीरे-धीरे भीतर जाते हैं और हमारा चित्त जगता है। हम अपने मन को कुरेदते हैं। जब हम शांत होते हैं तब मन को जगाते हैं। सोया हुआ चेतन तत्व जगता है, हमारा अवचेतन मन जगता है। इस समय जो चेतन मन दिखाई देता है वह बिल्कुल थोड़ा-सा होता है। इससे अधिक मन और चित्त हमारे भीतर सोया हुआ है। चेतन मन जो हमें बाहर दिखाई देता है वह बिल्कुल ऐसा है जैसे सागर में कोई द्वीप उभर कर आया हो। बाहर जो मिट्टी-पत्थर या भूमि दिखाई देती है उससे कई गुना अधिक तो सागर में भीतर समाई रहती है। हमें अपने मन की जो अनुभूति होती है वह सागर में पड़े हिमखण्ड के समान है जो बाहर कम और

समुद्र के भीतर अधिक होता है।

अज्ञात मन बहुत बड़ा है और ज्ञान मन बहुत-बहुत छोटा है। ध्यान-साधना के द्वारा हम अपने सोये हुए मन को, चित्त को कुरेदते हैं, उखाड़ते हैं। इतना उखाड़ते हैं कि चित्त की जमीन साफ हो जाती है। ऊपर की पर्तें किनारे हट जाती हैं।

हमारे मन के, ज्ञान के, मस्तिष्क के, हृदय के तन्तु निश्चित रूप से सक्रिय किये जा सकते हैं। अपने शरीर को, शरीर-के-भीतर-के-शरीर को कैसे सक्रिय किया जा सकता है ऐसा किसी भी शरीर-विज्ञानी के पास साधन नहीं है लेकिन ध्यान-योग के द्वारा हम जब अपने अन्तर्जीवन में प्रवेश करते हैं तो इससे अंग-अंग को सक्रिय कर सकते हैं। यह बिल्कुल व्यावहारिक तथ्य है। जब हमने किसी अंगुली पर पन्द्रह मिनट तक ध्यान केन्द्रित किया और शरीर की सम्पूर्ण चेतना और ऊर्जा को वहीं केन्द्रित करना चाहा तो निश्चित ही अंगुली में भी संवेदना का अहसास होगा। प्रतीत होगा जैसे यहाँ कुछ पिण्ड एकत्रित हो चुका है। शरीर के जिस अंग पर भी ध्यान केन्द्रित करोगे वह अंग अपने-आप सक्रिय हो जाएगा। शरीर पर ध्यान केन्द्रित करोगे तो शरीर सक्रिय होगा और मन पर ध्यान केन्द्रित करोगे तो मन सक्रिय होगा। मस्तिष्क पर केन्द्रित करने से मस्तिष्क और चेतना पर केन्द्रित करने से चेतना सक्रिय होगी। हर तत्त्व, हर तन्तु सक्रिय हो सकता है।

हमारे लिए पहली साधना यही होनी चाहिए कि हम जो भी कार्य करें एक-मन के साथ करें। बहु मन, बहुरूपिए होकर कोई काम न करें। अगर भोजन भी कर रहे हों, तो पेट में डालना ही खाना न हो, मन से खाना हो। मनोयोगपूर्वक कभी भोजन किया? जब मनोयोगपूर्वक भोजन करोगे तो उसमें बड़ा स्वाद आएगा। भले ही वह वस्तु तीखी, फीकी या मीठी क्यों न हो उसमें बड़ा रस आएगा। उस भोजन को करने में भी बहुत तन्मयता आएगी। सुस्वादु लगेगा वह, फिर चाहे उसमें मिर्च-मसाला भी न हो। एक काम, एक मन। जब भी कोई कार्य करो पूरे मन से करो ताकि उसका पूरा-पूरा आनन्द भी ले सको।

संत विनोबा भावे के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि जब वे अपनी कुटिया में झाड़ू लगा रहे थे और किसी ने पूछा कि बाबा क्या कर रहे हो, तो विनोबा ने कहा, माला गिन रहा हूँ। जब वे पौँछा लगा रहे थे तो फिर पूछा कि बाबा क्या कर रहे हो? उत्तर मिला ध्यान कर रहा हूँ। उसने कहा - आप झाड़ू लगाते हो और कहते हो माला गिन रहा हूँ, पौँछा लगाते हो और कहते हो ध्यान कर रहा

चेतना का विकास : श्री चन्द्रप्रभ/४९

हूँ? विनोबा ने कहा, हां मैं झाड़ू लगा रहा हूँ और माला गिन रहा हूँ। झाड़ू लगाते हुए बावन तिनके गिरे और मैंने बावन बार राम का नाम लिया है। मेरे लिए आज बावन बार गिनना माला हुई। पौंछा लगाते वक्त बीच में चार मकोड़े और तीन चिंटियाँ आईं उनमें मैंने उसी आत्मा को देखा जो मुझमें हैं। उनमें भी वही प्रभु है जो मेरे अन्दर है। उन चींटी और मकोड़ों को देखते-देखते मेरा ध्यान हो रहा था।

झाड़ू लगाना भी ध्यान हो सकता है। जब तुम चींटी और कीड़े में भी परमात्मा को देख लेते हो तो ध्यान सध रहा है। ध्यान जारी है। झाड़ू लगाना भी समाधि हो सकता है। ध्यान, कर्म से, श्रम से कभी विमुख नहीं करता। यदि ध्यान आपको निष्क्रिय बना दे तो वह जीवन को मृत्यु प्रदान करेगा, ऊर्जा नहीं। हमें तो कर्मठ होना है, श्रमशील होना है। आज ध्यान किया तो जो कार्य कल तक चार घंटों में करते रहे वह आज दो घंटों में करो और शेष दो घंटों में वह करो जो अब तक नहीं कर पाए। स्वयं का विस्तार करो, अपनी ऊर्जा का अधिक संपादन व समीकरण करो। तुम्हारा लिखना, बोलना, झाड़ू लगाना, भोजन करना सभी ध्यान हो जाए। जिस दिन ऐसा होगा उस दिन तुम्हारा घर भी मंदिर हो जाएगा। झाड़ू लगाना भी तुलसी, चन्दन और रुद्राक्ष की माला बन जाएगा। और अगर माला फेरना ही प्रभु-भक्ति है तो मणिये लुढ़कते जाएंगे और कबीर जैसे लोग मजाक उड़ायेंगे 'मनवा तो चहुं दिसि फिरै'। गिनती पूरी हो जाएगी, हल कुछ न निकलेगा।

एक ही काम होगा या तो राम का स्मरण होगा या माला फिरेगी। अगर यह सोचो कि माला भी फिरती जाए, एक सौ आठ मणियों की गिनती भी हो जाए, भगवान का नाम भी हो जाए, नीचे आसन बिछाकर बैठ गए तो सामायिक भी हो जाए, पड़ोस में कहीं कुछ हो रहा हो तो उसकी तरफ भी झांक लिया जाए, मन बन गया तो किसी से बात भी कर ली जाए, अगर इतनी सारी चीजें होती हैं तो वह न ध्यान हुआ और न सामायिक हुई। वह तन्मयता नहीं हमारे मन की व्यग्रता होगी। तब वह ध्यान, शुक्ल ध्यान नहीं, आर्त और रौद्र ध्यान हो जाएगा।

इसलिए एक मन और एक काम। जो भी कार्य करेंगे एक मन से, तन से, वचन से, त्रिविधकाय योग से करेंगे। यह सूत्र ध्यान में रखिए एक काम एक मन। यही व्यक्ति के लिए तन्मयता है, रसमयता है। यदि ऐसा हो जाए तो प्रभु की सेवा हो जाएगी, प्रसाद चढ़ाना हो जाएगा। भोजन भी यह सोचकर स्वीकार

करो कि यह मैं नहीं खाता, अपने भीतर जो परमात्मा विराजमान है उस परमात्मा को अर्घ्य चढ़ाता हूँ। जब ऐसा सोचोगे तो कभी भी बाजारू चाट-पकौड़ी नहीं खा पाओगे। कभी तुम भगवान को सिगरेट पिला सकते हो? शराब, गांजा-भांग पिला सकते हो कि ले प्रभु भोग लगा। यह तुम्हारे जीवन का दुर्भाग्य है कि तुमने स्वयं में प्रभु न माना, दूसरे में प्रभु न माना। सिर्फ एक स्थान-विशेष में प्रभु को सीमित कर दिया कि वह मंदिर, मस्जिद, गिरजा या गुरुद्वारे में है। वहाँ भी प्रभु है, अवश्य है। लेकिन असली प्रभु तो तुम स्वयं हो। इसलिए बाजार भी जाओ तो यह मत सोचो कि बाजार जा रहा हूँ। सोचो कि प्रभु की परिक्रमा लगाने मंदिर जा रहा हूँ। अपने शरीर को भी परमात्मा का निवास-स्थान/मंदिर समझो। तब आप शरीर को भी शुद्ध रखेंगे। स्वच्छ स्थान पर रहना पसंद करेंगे। स्वच्छ वायु-मंडल में श्वास लेंगे, स्वच्छ खाना खाएंगे, स्वच्छ पानी पीएंगे। हर चीज में स्वयं ही पवित्रता लाने का प्रयास करेंगे।

जब मंदिर में जाते हो तो सोचते हो यहाँ क्रोध करना पाप है लेकिन जब तुम स्वयं मंदिर बन जाओगे और क्रोध करोगे तो इससे बड़ा पाप और क्या होगा? मंदिर में जो पाप हो रहा है उससे तो शायद बचा भी जाओ लेकिन अपने-आप में जो पाप हो रहा है उससे बचकर कहाँ जाओगे? दूसरों की आँख में तो धूल झाँकी जा सकती है लेकिन अपनी आँख में धूल झाँककर कब तक जी सकोगे? इसलिए कहता हूँ प्रभु! अपने आपको दीन-हीन-दरिद्र मत मानो। अपने में प्रभु मानो। जो है उसे बड़े प्रेम से स्वीकार करो। दूसरों को भी जो तुम्हारे यहाँ आया है मेहमान मत मानो, समझो प्रभु का ही कोई दूसरा रूप आया है। तब मंदिर में जाकर जो प्रसाद चढ़ाते हो उससे भी अधिक आनन्द उस अतिथि/जीवित परमात्मा को भोजन कराने में आएगा।

जब अपने बच्चे में भी भगवान कृष्ण का रूप देख लो, उसके प्रति भी कृष्ण जैसी श्रद्धा करोगे तभी भगवान कृष्ण के प्रति सच्ची श्रद्धा कर सकोगे। मैं यह नहीं कहता कि अपने बालक को चांटा मत मारो, मैं तो सिर्फ यह कहना चाहता हूँ कि अगर चांटा मारो तो पहले यह सोच लेना कि क्या भगवान कृष्ण सामने आ जाए और शैतानी करें तो चांटा मार सकोगे? भगवान आपके सामने आ जाएं और उन्हें गाली दे सकते हो तो इन सब लोगों को गाली देना। अगर भगवान को अपशब्द नहीं कह सकते तो किसी से भी न कहो। भगवान को पाकर तुम जितने प्रसन्न हो जाओगे उतने ही प्रसन्न हर किसी से मिलते-जुलते उठते-वैठते हो जाओ।



कोई मिला, प्रभु मिला। कोई आया, प्रभु आया। मैं तो ऐसा ही सोचता हूँ। भले ही आने वाला अपने को कुछ भी, मेरा शिष्य समझे, लेकिन मैं तो यही भाव रखता हूँ कि मेरे लिए प्रभु के रूप में आ रहा है और हर दिन प्रभु नया-नया रूप लेकर आ रहा है। सब रूपों-आकारों के पीछे बस वही एक बसता है, जीता है। जब हम सब जगह प्रभु का भाव रखते हैं तब चित्त में विकार नहीं रहते। फिर हमारे लिए सारे इन्सान एक जैसे हो जाएंगे। तब नारी और पुरुष का विकार भी घटेगा। हर व्यक्ति परमात्म स्वरूप होगा। जब हम मंदिर में प्रतिमा को विराजित कर उसमें परमात्मा को स्वीकार कर सकते हैं तो अपने में, और अपने से जुड़े लोगों में परमात्मा को स्वीकार क्यों नहीं कर सकते।

धरती का भगवान धरती पर है। हम सबके भीतर वह विराजमान है। मेरा प्रेम सबके लिए है, घट-घट में समाये उस प्रभु के लिए है। सबके भीतर जो प्रकाशमान प्रभु है, उसे मेरा प्रणाम है। स्वीकार करें।

नमस्कार।

## प्रश्न समाधान



- *कई दिनों पूर्व जानबूझकर एक भयंकर गलती हो गई। मन में बहुत बड़ा पछतावा रहता है। ध्यान करने में भी हमेशा वही गलती याद आती है तो मन खिन्न हो जाता है। अभी तक वह गलती किसी पर जाहिर नहीं की है। जाहिर करने पर बहुत अधिक परेशानी हो सकती है। कृपया कोई योग्य सुझाव और मार्गदर्शन दें, जिससे मन की अशान्ति दूर होकर सुख-सुकून व शांति मिले!*

प्रिय ..... जी, अगर कोई गलती जानबूझकर हुई है तो हम उसे गलती कैसे कहें? गलती हमेशा अनजान में होती है फिर भी अगर यह अहसास हो कि यह गलत हुआ, जानबूझकर हुआ और ध्यान करते वक्त उसकी याद आती है, इसे मैं आपके लिए एक अच्छा संकेत मानता हूँ। पहली बात, लोगों को प्रायः अपनी गलती का अहसास ही नहीं होता। अगर किसी को कहो कि तुमने अमुक गलती की, वह मानेगा ही नहीं। और उल्टा झल्ला उठेगा। तुम्हें ही भला-बुरा कह बैठेगा। फिर यह तो एक गलती याद आ रही है लेकिन जिन्दगी में जो इतनी सारी गलतियाँ की हैं

चेतना का विकास : श्री चन्द्रप्रभ/४५

उनकी तो कोई स्मृति ही नहीं है। मैं तो कहूँगा चल रहे हो और अनजाने में कोई चींटी भी मर गई तो यह भी गलती हो गई। आपकी गर्दन पर कोई मक्खी बैठी है और अनजाने में उस पर हाथ उठा दिया, भले ही वह न मरी फिर भी गलती हो गई।

गलती होना स्वाभाविक है। मनुष्य के जीवन में बहुत गलतियाँ और भूलें भरी पड़ी हैं। हम अपना ध्यान गलतियों पर न दें। अपने जीवन में अधिक गुण और सदगुण कैसे आ सकते हैं इस पर हम अपना ध्यान केन्द्रित करें। अगर अंधकार से जूझते रहोगे तो अंधकार से कभी मुक्त नहीं हो पाओगे। अंधकार से उबरने के लिए प्रकाश की क्रान्ति की जरूरत है। एक दीप जलाओ, अंधकार अपने-आप मिटेगा। गलतियाँ होनी स्वाभाविक हैं लेकिन भविष्य के लिए संकल्प कीजिए मैं गलतियों को पुनः नहीं दोहराऊँगा और अगर गलती हो जाए तो आंसू मत बहाइए। क्योंकि इससे कोई प्रायश्चित्त नहीं होगा।

पहले अपना मन हल्का कीजिए। जिस पर आपका विश्वास हो चाहे वह आपका मित्र हो, परिवार का सदस्य हो, आपका गुरु हो उसे अपनी गलती कह दीजिए ताकि मन हल्का हो जाए। मन हल्का कीजिए और अपने जीवन में गुणों की, प्रकाश की क्रान्ति को अधिक से अधिक लाने की चेष्टा कीजिए। अपने अवगुणों को अधिक याद मत कीजिए, अपने गुणों को याद कीजिए और उन्हें बढ़ाने का प्रयास कीजिए। गुण आएंगे, अवगुण स्वयं ही हटते चले जाएंगे। प्रयास गुणों के लिए हों, अवगुणों के प्रायश्चित्त के लिए नहीं। गुणों का मंथन करें, ताकि जीवन अमृत हो। दीप जलाएं, ताकि अंधकार खुद मिटे। चलो, प्रकाश की ओर, अमृत की ओर, अमरत्व की ओर।

- *शक्ति-जागरण होने पर आपने स्वयं को अतिशीघ्र मुक्त कर लिया। क्या शक्तिपात की गुरु की साधना में कोई उपयोगिता नहीं? क्या गुरु की कृपा कुछ नहीं होती? क्या हम स्वयं गुरु बन जाने के सक्षम हो जाते हैं?*
- पहली बात, शक्ति के जागरण पर स्वयं को आपने अतिशीघ्र मुक्त कर लिया। बंधन मुझे पसंद नहीं। वह बंधन चाहे संसार का हो, परिवार का हो या अध्यात्म का भी क्यों न हो। यह बंधन ही तो, जिसके चलते हम कहते हैं यह मेरा मंदिर, यह तुम्हारा मंदिर, यह मेरी मस्जिद, यह तुम्हारा

गुरुद्वारा। धर्म के साथ होने वाले बंधनों के कारण ही दिगम्बर और श्वेताम्बर दो धर्म हुए। धर्म-बन्धन के कारण शिया और सुन्नी, प्रोटेस्टेण्ट और कैथोलिक, हीनयान और महायान दो धर्म हुए। और मैं वह नहीं हूँ जो स्वयं को आपसे बांधकर रखूँ। आप अगर बांधकर रहते हैं तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है। लेकिन मैं खुद को आपसे बांधकर रखूँ, यह सम्भव नहीं है।

अध्यात्म हमेशा स्वतंत्रता की बात कहता है, आत्म-स्वतंत्रता की बात करता है। मेरा काम तो सिर्फ इतना है कि भीतर शक्ति-जागरण हो जाए। लाख कोशिश करने के बाद भी अगर शक्ति-जागरण नहीं होता है तो ही मैं 'शक्तिपात' जैसी शक्तियों का प्रयोग करता हूँ अन्यथा चाहे थोड़ा-सा भी शक्ति-जागरण क्यों न हो, हमारा अपना मौलिक होना चाहिए।

गुरु का कार्य सिर्फ इतना होता है कि भीतर जो गर्भ दबा हुआ है, जो बालक सोया हुआ है एक मिडवाइफ की तरह जरा-सा धक्का दे और बाहर निकाल दे। दाईं स्वयं बच्चे को पैदा नहीं करती। केवल बच्चे को पैदा करवाने में मदद कर देती है। गुरु का कार्य सिर्फ यह है वह शक्ति जिससे आप अनजान हैं, अबूझ हैं वह पहली सुलझ जाए और आपके भीतर चेतना का जो अस्तित्व है, उसे बाहर निकालकर आपको दिखा सके। उस अस्तित्व के साथ आप जीवन व्यतीत कर सकें, अपने जीवन का आनन्द प्राप्त कर सकें। आप जान सकें कि जीवन का वास्तविक स्वरूप क्या है, आनन्द क्या है, तुम अन्तरतः और कैसे स्वस्थ हो सकते हो, कैसे स्वयं का स्वर्ग ईजाद कर सकते हो।

गुरु अगर जानता है कि चाँद वह रहा तो वह अंगुली से इशारा करके बता देगा कि देखो तुम्हारे सामने वह चन्द्रमा है उसे देखो। अब अगर तुम्हें चन्द्रमा दिख गया और तुम उसे भूलकर केवल अंगुली को याद रखोगे तो बंधन हो जाएगा। अटक जाओगे। मैंने तो कभी आप सभी को अपना शिष्य भी नहीं माना है। आप अपनी ओर से मुझे जो मानते हैं, यह आपकी मौज! आपका अहोभाव! मैं तो बस, मानसमित्र हूँ। एक ऐसा व्यक्ति जो आपका कल्याण चाहता है। मेरे लिए तो आप सभी प्रभु हैं, और प्रभु होने के कारण आप सभी की प्रभुता को जगाने का प्रयास किया है। प्रभुता जग जाए, बस इतना काफी है। चन्द्रमा प्रमुख है, अंगुली

गौण है। कौन दिखाता है इसका स्मरण रखो तो बलिहारी और न रखो तो इसका ज्यादा मूल्य नहीं। अपना काम तो शिष्य बनाकर उसे खुद का दीपक थमा देना है। 'अप्प दीवो भव'। अगर मेरे ही सहारे चलना है तो कभी भी चलना नहीं सीख पाओगे। बच्चा यह सोचता रहे कि मुझे मां की अंगुली पकड़नी है और मां न होगी तो मैं नहीं चलूंगा। मां का मूल्य है लेकिन तब तक जब तक चलना नहीं सीखे। पांव में शक्ति आ गई फिर बच्चे को स्वयं चलना चाहिए।

गुरु का कार्य ऐसा है जैसे कोई व्यक्ति तालाब में उतरना चाहता है तो....! तो के प्रश्न-चिन्ह को किनारे खिसका देता है और कहता है चिन्ता मत कर मैं तेरे साथ हूँ। मैंने तुझे पीछे पकड़ लिया अब तू पानी में उतर। वह पानी में उतरता है, फिर डरता है। जैसे नवजात पक्षी का बच्चा अपने घोंसले से दो कदम आगे बढ़ाता है, फड़फड़ाता है घबराता है और फिर वापस अपने नीड़ में लौट आता है। वह घबराहट, वह भय मिटाना ही मेरा काम है। इसलिए मैं कहता हूँ पानी में नीचे उतरो मैंने पीछे से पकड़ रखा है। लेकिन मैंने पकड़ा नहीं था। सिर्फ यह विश्वास दिलाया था, आश्वासन दिया था कि पीछे से पकड़ रखा है। पकड़ा जरूर था लेकिन यह मत मान लेना कि मैंने पकड़ा था। मुझे तो सिर्फ स्वयं को पकड़ कर चलना था। इस चलने में अगर अन्य लोग भी साथ में अंगुलियां पकड़कर चलते हों तो मुझे कोई एतराज नहीं।

मुझे तो अपने दीप को ज्योतिर्मय करना है और अपना दीप ज्योतिर्मय करते समय मेरे संस्पर्श से कुछ और दीप ज्योतिर्मय हो जाते हैं तो यह ज्योतिर्मय संघ का निर्माण हुआ। गुरु तो सिर्फ नीचे हाथ रखता है और कहता है हाथ-पैर चलाओ, अब तैरना सीखो। वह हाथ-पैर चलाता है, तैरना सीख जाता है और अचानक गुरु अपना हाथ हटा लेता है। आदमी तैरता रहता है इस विश्वास के साथ कि मेरे नीचे गुरु के हाथ हैं। गुरु ने तो तैरना सिखाया और हाथ हटा दिया।

संसार में दो प्रकार के गुरु होते हैं। एक वे जो अपने चेलों की जमात बढ़ाना चाहते हैं। जैसे चिलम-चकड़ी की जमात बढ़ती है ऐसे चेलों की जमात बढ़ जाती है। वे सिर्फ शिष्यों की भीड़ बढ़ाते हैं। खुद तो कहीं नहीं पहुंचे होते लेकिन दूसरों को पहुँचाना चाहते हैं। जो खुद नहीं पहुंचे होते वे दूसरों को भी कभी नहीं पहुँचा सकते। खुद तो गड्ढे में गिरेंगे

दूसरों को भी गद्दे में ले गिरेंगे। मेरे अनुसार इससे अधिक मिथ्यावाद और कोई नहीं है। अगर नहीं जानते स्पष्ट रूप से कह दो मेरे प्रभु! मैं यह नहीं जानता। कोई व्यक्ति दस वर्ष तक तुम्हारे साथ चले, अपनी श्रद्धा को लंगड़ी मारे इससे तो बेहतर है तुम इससे पहले ही स्वयं को उससे अलग कर लो।

मेरे लिए बंधन का मूल्य नहीं है। मेरे लिए प्रेम का, स्नेह का मूल्य है। अहिंसा की यही सकरालकता है। मेरा स्नेह सदैव आपके साथ है। मेरा तुम्हें यही संदेश है : 'अप्प दीपो भव'। अपने दीप आप स्वयं बनिए। जैसे मेरे पास आकर आप अपने ध्यान को साध लेते हैं, जब उतना ही ध्यान आप अपने घर में भी करने लगेंगे, वैसी साधना सधने लग जाएगी उस दिन के बाद मेरी जरूरत नहीं होगी। उसके बाद आपको स्वयं की जरूरत होगी। जब तक ऐसा नहीं होता मेरी अनिवार्यता आपके लिए बनी रहेगी। और जब तक अनिवार्यता है, मेरी सेवाएं आपके लिए हाजिर हैं।

► *क्या जीवन का लक्ष्य एक ही होना चाहिए? यदि एक ही हो तो क्या मन में पछतावा नहीं रहेगा कि हम अपनी दूसरी क्षमताओं, प्रतिभाओं को दबा गए, उभार नहीं पाए?*

रश्मि मालू, जीवन के विकास के लिए मनुष्य का लक्ष्य तो एक ही होना चाहिए। अगर दस लक्ष्यों तक पहुंचना चाहोगे तो कहीं भी नहीं पहुंच पाओगे। क्या आपने अपनी मां से यह बात नहीं सुनी कि सात मामाओं का भानेज भूखा रहता है। सात मार्ग हो सकते हैं लेकिन मंजिल तो हर पगडंडी की एक ही होती है। अगर एक मार्ग से जा रहे हो और दूसरी ओर जाने की इच्छा भी हो जाए, तो उस मार्ग का आनन्द भी ले आना, पर लक्ष्य का हमेशा स्मरण रखना।

जीवन के मार्ग से गुजरते हुए दस रास्तों को अपना भी बैठे तो कोई खतरा नहीं अगर लक्ष्य विस्मृत न किया। लक्ष्य ही अगर चूक गया तो भले ही सीधे रास्ते पर भी चले जाओगे कहीं नहीं पहुंचोगे। लक्ष्य निरन्तर स्मरण रखना चाहिए।

एक सम्राट दस हजार रानियों के बीच रहकर, राज्य में अपराध और दण्ड की व्यवस्था कायम करने के बावजूद वह स्वयं की मुक्ति का लक्ष्य रखना

चेतना का विकास : श्री चन्द्रप्रभ/४६

चाहता है तो रख सकता है। व्यक्ति सब कुछ करते हुए भी अगर उसका लक्ष्य मुक्ति है तो वह हर तत्त्व से मुक्ति हासिल कर लेगा।

ऐसा हुआ भगवान महावीर के शिष्य हुए नन्दिसेन। नन्दिसेन भगवान के पास पहुंचे, उनका उपदेश सुना। उपदेश सुनकर कहने लगे प्रभु मैं आपके मार्ग पर चलना चाहता हूँ। आपका संयम-पथ स्वीकार करना चाहता हूँ। भगवान ने कहा नन्दिसेन अभी जल्दी नहीं है आराम से स्वीकार करना। लेकिन नन्दिसेन अपनी बात पर अड़ गया कि मुझे तो यह मार्ग स्वीकार करना ही है। भगवान ने कहा अगर ऐसी बात है तो जरूर स्वीकार करो। पर पहले अपने माता-पिता से अनुमति ले आओ। ऐसा कहकर नन्दिसेन को रवाना किया। महावीर के प्रमुख शिष्य गौतम ने पूछा, भगवन् आपने पहले तो नन्दिसेन को मना किया और बाद में आप ही ने कह दिया अच्छा दीक्षा ले लो। कहीं कोई संशय था? महावीर ने कहा, हां। अभी तो इसके मन में बहुत तीव्र भाव है कि मैं मुनि बनूँ, साधू-श्रमण बनूँ। लेकिन इसके जीवन की नियति, जीवन के संयोग आने वाले कल में ऐसे हो जाएंगे कि इसे अपने गृहस्थाश्रम का सेवन करना पड़ेगा। गौतम ने कहा, प्रभु जब आप जानते हैं कि यह गृहस्थी का पुनः सेवन करेगा तो आपने अनुमति कैसे दे दी?

भगवान बोले, वत्स यह भले ही गृहस्थ का सेवन करे, या एक बार मार्ग से फिसल भी जाए लेकिन आज इसकी जो श्रद्धा बनी है और जीवन-लक्ष्य का निर्माण हुआ है यही लक्ष्य इसे पुनः इसी मार्ग पर ले आएगा। भले ही यह दुनिया की निगाह में फिसला हुआ कहलाए लेकिन आज इसकी जो श्रद्धा है वही श्रद्धा उस दुश्चारित्र से सम्यक् चारित्र पर लाकर खड़ा कर देगी।

भगवान ऋषभदेव के मंडप में जब ऐसी ही चर्चा चली कि सम्राट विश्व-विजेता भरत की मरने के बाद कौनसी गति होगी। ऋषभ ने कहा यह इसी जन्म में मुक्ति प्राप्त कर लेगा। लोगों ने सोचा, जो व्यक्ति सम्राट है, इतने पाप और अनाचार करता है, जिस व्यक्ति के द्वारा इतनी सारी रानियों का पोषण होता है, सारे साम्राज्य में इतने दण्ड दिये जाते हैं, क्या वह इसी जीवन में निर्वाण और मोक्ष को उपलब्ध हो सकेगा? भरत चक्रवर्ती के कानों तक यह बात पहुंची। भरत ने उस व्यक्ति को बुलाया और कहा मैं तुम्हें तेल से भरा हुआ कटोरा देता हूँ। तुम इस कटोरे को

लेकर पूरी अयोध्या नगरी में घूमकर आओ। आज मैंने नगर को बहुत सजवाया और शृंगारित किया है, देखकर आओ कि तुम्हें सब से सुन्दर-अच्छी चीज कौन सी लगी। तुम्हें कौन सी शृंगारित वस्तु पसन्द आती है। पर एक बात ध्यान में रखना, तुम्हें सब कुछ देखने की छूट है बस शर्त एक ही है कि कटोरे में से एक बूंद भी तेल न छलके। अगर एक बूंद भी गिर गई तो तुम्हारे साथ चार सुभट चल रहे हैं, गर्दन पर तलवार आ जाएगी।

वह चला। सुबह से शाम तक पूरे नगर में चलकर, घूमकर, उसके बीच जीकर आया और शाम जब सम्राट ने पूछा क्या देखा? उसने कहा, सिर्फ कटोरा; सिवा कटोरे के और कुछ भी नहीं।

अगर हमारे पास जीवन का कोई भी लक्ष्य है तो चाहे जहाँ जाओ, चाहे जैसे जिओ। जीना है बहुत उत्साह बहुत आनन्द और बहुत उत्सव के साथ जीना है। अगर हम जीवन का लक्ष्य निर्धारित करते हैं तो एक लक्ष्य बनाने से हमारी दूसरी क्षमताएं नष्ट नहीं होंगीं, उनका दमन नहीं होगा। वरन् हमारा लक्ष्य, हमारे संकल्प, हमारी दमित प्रतिभाओं और क्षमताओं को, योग्यताओं को और अधिक जगाएंगे। वे हमारे लक्ष्य को पूरा करने में अधिक सहायक होंगे। मार्ग चाहे जितने बनें लक्ष्य एक ही जीवन के विकास का।

अब यह आपको निर्धारित करना है कि आपके जीवन का मूल लक्ष्य क्या होना चाहिए। सारे लोग बिना लक्ष्य के जीते हैं, जी रहे हैं। सुबह होती है, शाम होती है, जिन्दगी यूं ही तमाम होती है। वही व्यक्ति असली जीवन जीता है जिसने अपना लक्ष्य बनाया और लक्ष्य के प्रति संकल्पित है, समर्पित है, सर्वतोभावेन ईमानदारी के साथ अपने लक्ष्य के लिए प्रयत्न करता है। निश्चित रूप से वह लक्ष्य के निकट पहुंचता है। सफलता उसके चरण चूमती है।

➤ आज प्रातःकाल ध्यान में आपके चरणों का स्पर्श करने पर मुझे मस्तिष्क में नीले गोले और फिर उस नीले गोले में अग्नि गोले के आ जाने का अनुभव हुआ। किस कारण ऐसा दिखाई दिया था? उसे अपने जीवन में मैं किस रूप में स्वीकार करूँ?

जब किसी भी व्यक्ति के भीतर अपने गुरु के स्पर्श के कारण कोई भी

चेतना का विकास : श्री चन्द्रप्रभ/५१



रंग, कोई भी प्रकाश प्रकट होता है तो इसका अपना अर्थ और मूल्य है। ध्यान-मार्ग से गुजरते हुए आपको कई रंग दिखाई दे सकते हैं, प्रकाश दिखाई दे सकता है। प्रत्येक रंग भिन्न अर्थ रखता है, आपके व्यक्तित्व को प्रतिबिम्बित करता है।

यदि गुरु के स्पर्श से सफेद रंग दिखाई दे, श्वेत प्रकाश, श्वेत फूल या फल दिखाई देता है तो इसका अर्थ है कि गुरु ने आपको और ज्यादा निर्मल, पवित्र और प्रेममय होने का आशीर्वाद दिया है। अगर लाल रंग दिखाई दे तो इसका अर्थ हुआ कि उन्होंने आपको और ज्यादा ज्ञानमय होने का आशीर्वाद दिया है। नीला रंग दिखाई देने का अर्थ यह है कि तुम्हारे अंदर जो कलुषितताएँ थीं, उन कलुषितताओं को गुरु ने हरण कर लिया और, और ज्यादा निर्मल होने का आशीर्वाद तुमने पाया। शंकर नीलकंठ कहलाते हैं। नीला गोला शंकर का प्रतीक होता है। जब भी मनुष्य के भीतर का जहर जगता है और गुरु से अमृत मिलता है, तो जहाँ जहर और अमृत का मिलन होता है, वहीं नीला रंग प्रकट होता है। इसलिए मेरे प्रिय विपिनजी! आपको नीले रंग के प्रकाश का दर्शन होना, जहर और अमृत का मिश्रण था। अच्छा होगा यह नीला रंग और निखरता चला जाए। बाद में दिखाई देने वाला हरा रंग आपकी प्रगति के लिए, आपके कल्याण के लिए है। भीतर का प्रदूषण खत्म हुआ। अंतर निर्मल हुआ। यह जीवन के लिए, साधना के लिए शुभ चिन्ह है।

अध्यात्म-साधना में अपने चरण और प्रयत्न और आगे बढ़ाएं। मेरी शुभकामनाएं आपके साथ हैं। बहुत-बहुत प्रेम।

# 4

## परमात्मा : चेतना की पराकाष्ठा

मेरे प्रिय आत्मन्!

**ध्यान** का उद्देश्य हमारे अन्तर जगत में बसे हुए शैतान को पहचानना और भीतर छिपे हुए परमात्मा को प्रगट करना है। जो जीवन हमें दिखाई दे रहा है, इस जीवन के पीछे एक और ऐसा जीवन रुंधा पड़ा है जिससे हम सभी अनजान हैं। ध्यान का कार्य हमें उस अनजान तत्त्व से परिचित कराना है, उस अज्ञेय और अज्ञात से साक्षात्कार कराना है, स्वयं के अस्तित्व, वर्तमान और ब्रह्मरूप को आत्मसात करवाना है। यह व्यक्ति के लिए तभी होगा जब वह वस्तुनिष्ठ व्यक्तित्व को प्रयोगधर्मी मार्ग से गुजारेगा।

महावीर का प्रसिद्ध वचन है 'वत्थु सहावो धम्मो'। वस्तु का स्वभाव ही धर्म है। महावीर के लिए धर्म की इतनी ही परिभाषा है कि वस्तु का जो व्यक्तित्व है वह व्यक्तित्व ही धर्म का अर्थ है। यह व्यक्तित्व तभी मुखर होता है जब वह अपने स्वभाव को पहचानने के लिए प्रयास करता है। जब-जब व्यक्ति अपने स्वभाव में होता है तब-तब

चेतना का विकास : श्री चन्द्रप्रभ/५३

वह धर्म में होता है। यदि कोई पशु है तो उसका पशु होना उसका व्यक्तित्व है और पशुता में जीना उस पशु का धर्म है। शैतान की शैतानियत, इन्सान की इन्सानियत और भगवान की भगवत्ता का प्रगट होना उनका धर्म है। आग का धर्म जलाना है, पानी का धर्म ठंडा करना है। हर वस्तु अपने-अपने स्वभाव में है। स्वभाव ही धर्म है।

पेड़-पौधे, पहाड़, पशु-पक्षी सब तत्त्व अपने-अपने धर्म के अनुसार चल रहे हैं तब इन्सान इन्सान के रूप में शैतान क्यों हो रहा है? इन्सान का पशु या शैतान के रूप में होना ही उसका विधर्म है। यदि आप अपने स्वभाव में आ जाएं, परमात्मा न भी बन पाएं लेकिन इन्सान बन जाएं, बहुत है। इन्सान की भलाई, प्रगति और अस्तित्व इसी बात में है कि वह पूरी तरह इन्सान बना रहे। जैसे हम बाहर से इन्सान हैं वैसे ही हमें भीतर से भी इन्सान होना चाहिए। इन्सान की शान इसी में है।

मनुष्य जब अपने मनुष्यत्व के करीब पहुंचता है तब वह अपनी भगवत्ता के करीब पहुंचता है। मेरा प्रयास है कि मनुष्य, मनुष्य के और अधिक करीब आए। मनुष्य अगर परमात्मा के निकट आता है तो यह उसका अखण्ड सौभाग्य है, पर जब वह स्वयं के निकट आता है तो अपने धर्म के निकट आ रहा है। यह निश्चित है कि हर बीज में वृक्ष होने की सम्भावना रहती है और जैसे हर बीज वृक्ष हो सकता है, ऐसे ही हर मनुष्य भगवान भी हो सकता है। मनुष्य अनन्त सम्भावनाओं का स्वामी है। जैसे बीज वृक्ष का स्वामी है, वैसे ही मनुष्य भगवत्ता का स्वामी हो सकता है।

बीज वृक्ष तो होना चाहता है लेकिन बहुत घबराता भी है कि कहीं टूट गया तो? लेकिन वृक्ष होने के लिए तो बीज को टूटना ही होगा, जमीन में भी धंसना होगा, खाद-पानी भी जुटाना होगा। जब सारी चीजें उपलब्ध हो जाएंगी तब कहीं बीज वट-वृक्ष बनता है। इंसान अपने अहंकार को भी जीवित रखे और सर्वकार भी हो जाए, यह सम्भव न होगा। बूंद मिटे तो ही सागर में समा सकती है, सागर हो सकती है। जब तक बूंद बूंद बनी रहेगी तब तक सागर नहीं हो सकती। जब वह सागर में समा जाएगी वो अनन्त, विराट हो जाएगी।

तुम गुरु के पास जाकर अपना ज्ञान बघारते हो। अपनी शास्त्रीय चेतना को आरोपित करते हो तो गुरु के पास जाने का कोई अर्थ न होगा। अगर तर्क-वितर्क ही करना है तो किसी पंडित और मौलवी को ढूँढ लो। गुरु के पास जाकर तो सारे तर्क और वितर्क समाप्त हो जाने चाहिए। हमारी जो मान्यताएं हैं

परमात्मा : चेतना की पराकाष्ठा/५४

उन्हें ही बचाकर रखना है, उनका ही परिपोषण करना है तो बहुत से केन्द्र हैं वहाँ तक पहुंच सकते हैं। गुरु के पास तर्क नहीं होता। गुरु के पास ज्ञान सम्यक् होता है। जब कोई तर्कजाल में जाता है, तो वह सम्यक् ज्ञान से दूर होता है। जब कोई तर्क करता है तब वह अपनी सोची हुई बात को, अपनी मान्यता को दूसरे पर आरोपित करना चाहता है। अगर उसके मन के, तर्क के अनुसार बात होगी तब वह खुश हो जाएगा अन्यथा अधिक वितर्क में आएगा, जल्प हो जाएगा, वितण्डावाद खड़ा करेगा। ज्ञान तर्क में नहीं, परमात्मा तर्क में नहीं। परमात्मा शब्द में नहीं, शब्द के पीछे छिपे भाव में है, अर्थ में है। वही सार्थकता है। वह अदृश्य के अर्थ में है।

बीज वृक्ष हो सकता है अगर चाहे तो। इन्सान भी भगवान हो सकता है बशर्ते वह भगवान होना चाहे। लेकिन वह बहुत भयभीत होता है। सोचता है, क्या जरूरत है भगवान बनने की। वह कभी कल्पना भी नहीं कर सकता कि मैं भी महावीर हो सकता हूँ। मैं भी कृष्ण, राम और रहीम हो सकता हूँ। अगर किसी को कहो कि तुम महावीर हो सकते हो तो वह कहेगा असम्भव है, महावीर होना बहुत कठिन काम है। बस महावीर ही महावीर हो गए। तब तुम महावीर नहीं बन पाओगे। नतीजतन तुम महावीर के पांवों में जाकर झुक जाओगे, प्रणाम कर लोगे, नमस्कार करोगे लेकिन महावीर नहीं हो पाओगे। महावीर कभी नहीं कहते कि तुम सब मेरे भक्त हो जाओ। उन्होंने यही चाहा कि सब महावीर हो जाएं। वे नहीं कहते कि तुम मुझे भगवान के रूप में देखो, वे कहते हैं तुम स्वयं में ही भगवान देखो। सोऽहं। तुम्हारे भीतर वही भगवान है, यह सदा बोध रखो।

महावीर का भक्त होने से कोई महावीर नहीं हो सकता लेकिन महावीर होने से महावीर हो सकता है। राम नाम की चदरिया ओढ़ने से राम नहीं हुआ जाता, राम होने से ही राम हो सकता है। 'बुद्ध शरणं गच्छामि' का स्मरण करने से कोई व्यक्ति बुद्ध नहीं होता। जब तक सम्बोधि हासिल नहीं होगी कोई भी बुद्धत्व के द्वार पर दस्तक नहीं दे सकता। अगर किसी बीज को वृक्ष होना है तो उसे पाने का प्रयत्न करना होगा। जमीन में धंसना होगा। लोगों की नजरों में बेवकूफी और पागलपन का कारण हुआ भी कहलाओगे। जब-जब इस दुनिया में किसी को सत्य और सम्यक्त्व उपलब्ध हुआ, आत्मदृष्टि और आत्म-ज्योति प्राप्त हुई, दुनिया उसे सदा पागल ही कहती रही। लोग तुम्हें ही पागल नहीं कहेंगे, उन्होंने महावीर को भी पागल कहा इसलिए शिकारी कुत्ते छोड़े। उन्हें बेवकूफ कहा इसलिए कानों में कीलें ठोंकीं। क्राइस्ट को क्रॉस पर लटका दिया गया।

चेतना का विकास : श्री चन्द्रप्रभ/५५

सारी दुनिया जिसे गधा समझती है और जो गधे की गाली को बड़े ही प्रेम से स्वीकार कर सकता है, वही व्यक्ति आत्मदृष्टि से सम्पन्न हुआ कहलाता है। वही सम्यक्च को उपलब्ध हुआ कहलाता है। आप स्वयं कृष्ण, महावीर, बुद्ध हो सकते हैं। बुद्धत्व की पुनरावृत्ति होनी ही चाहिए। हम अगर परमात्मा न भी बन पाए, आत्मा भी बने रह गए, अन्तरात्मा भी पूरी तरह बने रह गए तो भी समझना कि काफी कुछ बन गए। मंजिल का लम्बा फासला पार कर लिया।

परमात्मा को खोजने के दो ही मार्ग हैं। दुनिया भर के जितने भी धर्म, मान्यताएं या परम्पराएं हैं उनको इन दोनों मार्गों में समाहित किया जा सकता है। प्रभु को पाने का पहला मार्ग है तुम स्वयं परमात्मा हो जाओ या जो परमात्मा हैं उनके प्रति पूर्ण समर्पित हो जाओ। या तो तुम सागर हो जाओ या फिर बूंद को सागर में समाहित कर डालो। गंगा जो बह रही है वह गंगासागर में विलीन होकर विराट हो जाए या गंगोत्री की ओर यात्रा करके अपने मूल अस्तित्व में लौट आए। अपने अस्तित्व का विस्तार ही मनुष्य का वर्धमान रूप है और अपने अस्तित्व का प्रतिक्रमण ही महावीरत्व है।

अपने अस्तित्व के विस्तार का नाम ही ब्राह्मणत्व है और अस्तित्व का संगोपन ही क्षत्रियत्व है। जो अपने पौरुष में विश्वास रखता है वह क्षत्रिय है। जो परमात्मा में विश्वास रखता है वह ब्राह्मण है। जो अपने मन पर विश्वास रखता है वह वैश्य है और जो व्यक्ति अपनी देह के प्रति आसक्ति रखता है वह शूद्र है। जन्म से तो हर कोई शूद्र होता है। ब्राह्मण भी जन्म से तो एक अर्थ में शूद्र ही होता है। ब्राह्मणत्व तो अर्जित करना पड़ता है। सौ में से पांच-दस लोग ही ब्राह्मण हो पाते हैं, कर्मजात ब्राह्मण। ऐसा ब्राह्मण तो, शूद्र भी हो सकता है। ब्राह्मण-कुल में जन्म लेने वाला शूद्र हो सकता है और शूद्र कुल में जन्म लेकर भी अपने कर्मयोग द्वारा ब्राह्मण हुआ जा सकता है। अपने ही पौरुष के द्वारा जब तक क्षत्रियत्व नहीं आएगा, राजपूताना लौ नहीं जगेगी तब तक कोई भी ब्राह्मण और ब्रह्म नहीं हो सकेगा। ब्रह्म में जीने वाला ही ब्राह्मण है। ब्राह्मणत्व का उपार्जन करना पड़ता है। यह मनुष्य का दूसरा जन्म है, अपने ही पौरुष से अपने को ही दिया गया पुनर्जन्म है।

परमात्मा को पाने का पहला मार्ग तो यही है कि तुम स्वयं परमात्मा हो जाओ। न परमात्मा की कोई भक्ति, न स्तुति, न प्रशंसा, न यशगान। तुम स्वयं ही परमात्मा बनोगे यही एक मात्र संकल्प रहता है। महावीर, बुद्ध और पतंजलि जैसे लोग तो स्वयं ही परमात्मा होने में विश्वास रखते हैं। वे कहते हैं परमात्मा

के प्रति तो वह झुकेगा जिसका स्वयं का आत्मबल या बाहुबल नहीं है। लेकिन दूसरा मार्ग परमात्मा के प्रति समर्पित हो जाने का है, अपने अहंकार के मस्तक को नमा देने का है। इस मार्ग पर चलने वाले लोग अगर मंदिर जाते हैं तो जहाँ जूते खोलते हो वहाँ अपने अहंकार को भी अपने दिमाग से उतारकर रख दीजिएगा। अहंकार को साथ ले गए तो मंदिर जाना नहीं हो पाएगा।

एक मार्ग राम का है, दूसरा मार्ग महावीर का है। एक मार्ग मीरा का है, दूसरा शंकराचार्य का है। एक मार्ग चैतन्य महाप्रभु का है दूसरा मार्ग गोरखनाथ और आनन्दघन का है। एक मार्ग रामकृष्ण का है और दूसरा मार्ग उन लोगों का है जो स्वयं ही परमात्मा होने में विश्वास रखते हैं। मीरा का मार्ग अहोभाव का है और आनन्दघन का मार्ग अहोयोग का है। जो भावनाओं में जीते हैं उनके लिए मीरा का मार्ग है, शेष के लिए आनन्दघन और गोरखनाथ का मार्ग है। मीरा, चैतन्य का मार्ग बड़ा सरल है। झुक गए, अहंकार नमा दिया, नतमस्तक हो गए, परमात्मा की आभा हमारे भीतर प्रगट होने लग जाएगी। जब हम स्वयं ही परमात्मा हो जाएंगे, हमारे भीतर परमात्म-स्वरूप प्रगट होगा तब दुनिया के शास्त्र तो होंगे ही, हमारी अपनी वाणी भी शास्त्र हो जाएगी। जब कोई स्वयं ही सद्गुरु, तीर्थंकर या परमात्मा हो जाएगा तब महावीर ऋषभ, पंतजलि या बुद्ध की वाणी ही शास्त्र नहीं होगी, अपितु उसकी वाणी भी शास्त्र हो जाएगी।

परमात्मा तो हमारा स्वभाव सिद्ध अधिकार है। परमात्मा को खोजना नहीं होता, स्वयं परमात्ममय होना होता है। अपने में और दूसरे में परमात्मा को देखने की ग्रहणशक्ति को प्रगट करना होता है। जब कोई स्वयं में अपने प्रभु को देखता है तो उसकी दीनता की ग्रंथि समाप्त हो जाती है। यह भाव समाप्त हो जाता है कि मैं दीन-हीन-गरीब-छोटा या दरिद्र हूँ। जब व्यक्ति दूसरे में प्रभु मानेगा तो भीतर के अहंकार की ग्रंथि कि मैं औरों से बड़ा, मैं दूसरों का गुरु। यह गुरुता की ग्रंथि समाप्त हो जाएगी। जब कोई दूसरे को प्रभु मान रहा है तो गुरुत्व का अहंकार प्रगट ही कैसे होगा? जब व्यक्ति हर किसी में परमात्मा को स्वीकार करता है तो उसके भीतर से असमानता की ग्रंथि कि यह छोटा, यह बड़ा, ऊंचा-नीचा, काला-गोरा, अंग्रेज-हिन्दुस्तानी, आर्य-अनार्य इस प्रकार की सारी असमानताएं चली जाती हैं और तब वह सभी के साथ सम्माननीय व्यवहार करेगा। नौकर-मालिक का भेद समाप्त हो जाएगा। मानवता के धरातल पर तभी सही अर्थों में साम्यवाद की स्थापना होगी।

परमात्मा को मानना नहीं है, उसे जानना, पहचानना और दर्शन करना है।

चेतना का विकास : श्री चन्द्रप्रभ/५७

मंदिर, मस्जिद और गुरुद्वारे में जाकर हम परमात्मा को मान भी आते हैं कि हमने प्रभु को नमस्कार कर लिया। मस्जिद में जाने से खुदा को और मंदिर में जाकर परमात्मा को माना तो जा सकता है लेकिन जाना नहीं जा सकता। जानना तो तभी होगा जब हमारे प्रायोगिक जीवन में हम हर किसी में परमात्म-स्वरूप का निरीक्षण करेंगे। हमारे व्यवहार में, हमारी दृष्टि में, हमारी वाणी में, हमारे चिन्तन में, जहाँ सर्वत्र प्रभुता प्रगट होती है वहीं पर परमात्ममय जीवन बनता है।

अगर मानने से ही परमात्मा मिल जाए तो एक अंधा व्यक्ति प्रकाश के बारे में मानता तो बहुत है, प्रकाश के बारे में बातें भी कर सकता है, शास्त्र भी सुना सकता है लेकिन इतने मात्र से वह परमात्मा और प्रकाश को जान नहीं लेता। प्रकाश, प्रकाश है। यह प्रकाश उन्हीं को मिलता है जिनके भीतर अपनी अन्तरदृष्टि होती है। शेष के लिए तो परमात्मा सिर्फ एक शब्द है, एक परम्परा से, रुढ़ि से आया हुआ शब्द है, कहीं कोई जीवंतता नहीं है। अगर तुम मुझमें और मैं तुममें परमात्मा नहीं देख सकता तो मन्दिर और मस्जिद जाकर भी परमात्मा नहीं देखा जा सकता। मंदिर में जाकर वहाँ पत्थर की प्रतिमा दिखाई देगी, परमात्मा की प्रतिमा दिखाई नहीं देगी। इसलिए जीवंतता चाहिए। इतनी जीवंतता कि हमारा जीवन ही परमात्ममय हो जाए। सबमें प्रभु को देखना, यह सूत्र है।

परमात्मा की याद उन्हीं को आती है जिनके अन्तरघट में उसकी प्यास जग गई है। अपने ही बनाए परमात्मा के सामने प्रार्थना करने से कुछ नहीं होगा। उस परमात्मा की प्रार्थना और अर्चना करो जिसने तुम्हारा निर्माण किया है। अपने बनाये परमात्मा की प्रार्थना करोगे? या उस परमात्मा की प्रार्थना करोगे जिसने तुम्हारा सृजन किया है? सर्वादिशा में परमात्मा है। चारों ओर वह है। पेड़-पौधे, पत्ती, पहाड़ सब जगह पर है लेकिन वह हमारे अपने ही परमात्मा का प्रतिबिम्ब रूप है।

तुम परमात्मा को भी बाहर ही ढूँढते हो। अगर बाहर ही परमात्मा को ढूँढते रहे, सुख की, आनन्द की, महाजीवन की तलाश करते रहे तो बाहर प्रकृति है और भीतर पुरुष है। बाहर कुदरत है और अन्दर परमात्मा है। परमात्मा की यात्रा अतीन्द्रिय होती है। जब हमारी प्रवाहात्मक चेतना अवरुद्ध और शान्त हो जाती है, जहाँ इन्द्रियाँ व्यर्थ हो जाती हैं वहीं ध्यान सार्थक होता है। जहाँ इन्द्रियाँ और मन निरर्थक हो जाते हैं वहीं ध्यान सार्थक होता है। इसलिए यह मन और इन्द्रियों के पार की अतीन्द्रिय यात्रा है। केवल बाहर ही ढूँढते रहे अपने भीतर न ढूँढा परमात्मा के सुख को, तो परिणाम यह होगा कि तुम जहाँ ढूँढने जाओगे,

परमात्मा : चेतना की पराकाष्ठा/५८

जहाँ से जा रहे हो और जहाँ पर जा रहे हो वहाँ पहुँचोगे, लेकिन जहाँ पहुँच रहे हो वहीं दूसरा आदमी खड़ा है। वह भी परमात्मा को खोजने के लिए अपनी यात्रा प्रारम्भ कर रहा है। उससे पूछो कहाँ जाते हो, वह कहेगा वहीं पर जहाँ से तुम आये हो। फिर तो पहला व्यक्ति दूसरे स्थान पर और दूसरा व्यक्ति पहले स्थान पर परमात्म-स्वरूप को ढूँढता फिरेगा। तुम वहाँ, वह यहाँ। परमात्मा यहाँ भी है और वहाँ भी। जहाँ तुम हो, वहीं परमात्मा है। परमात्मा तुम्हारी आत्मा की आभा है, चेतना की पराकाष्ठा है।

परमात्मा की यात्रा इन्द्रियों से नहीं, अतीन्द्रिय होती है। इन्द्रियों से हम प्रकृति की यात्रा कर सकते हैं, पदार्थ का अनुभव कर सकते हैं। परमात्मा देहातीत स्थिति है, इन्द्रियातीत स्थिति है। इन्द्रियों का सुख अनन्तः इन्द्रियों का ही है।

तब मनुष्य को सुख इन्द्रियों में मिलेगा। अपनी खोपड़ी का कचरा वह दूसरे में भरना चाहेगा और दूसरे की खोपड़ी का कचरा अपने में भरेगा, सिर्फ स्थानान्तरण हो जाएगा। समापन नहीं होगा कचरे का, कषाय का। इसलिए जब कोई व्यक्ति बहुत तनाव में होता है, घबरा जाता है, तो अपने पड़ोसी के घर जाकर अपनी व्यथा सुनाता है और अभी उसकी व्यथा-कथा समाप्त भी नहीं हो पाती कि पड़ोसी अपनी राम-कहानी सुनाने लग जाता है। तुम उसको रोते हो और वह तुमको रोता है। हालत बिल्कुल ऐसी हो जाती है कि जब अकबर और बीरबल दोनों गड्ढे में गिर जाते हैं। एक कीचड़ के गड्ढे में गिरता है और एक अमृत के गड्ढे में, और दोनों एक दूसरे को चाटते फिरते हैं। तुम अपनी खोपड़ी का कचरा दूसरे के घर में डालते हो और दूसरे का अपने घर में ले आते हो।

तुमने यह बात तो सीख ली कि पानी उवालकर, छान कर, प्रासुक पानी पिओ। जब बिना छाना पानी पीना तुम अधर्म समझते हो तो बिना समझे, बिना सोचे-विचारें किसी के विचारों को अपने दिमाग में ले लेते हो क्या यह अधर्म नहीं हुआ? किसी के विचारों को भी प्रासुक करके स्वीकार करो। बोलने का हक तो सभी को है, लेकिन उतना ही स्वीकार करो जितना सार्थक हो। 'सार-सार को गहि रहे, थोथा देई उड़ाय।' उन विचारों को ग्रहण करो जिनसे आपकी वैचारिक शक्ति बढ़े। उन्हीं विचारों को स्वीकार करो जिनसे आपकी मानसिकता निर्मल और तनावमुक्त बने। वे विचार स्वीकार्य हैं, जो व्यावहारिक हों, तुम्हें प्रबुद्ध बनाए। यदि तुम किसी के पास जाते हो और वहाँ निंदा के शब्द मिलते हैं तो वहाँ जाने का क्या अर्थ हुआ?

हमारी सारी यात्रा इन्द्रियों की है। हम बाहर देखते हैं, सुनते हैं, पसंद

चेतना का विकास : श्री चन्द्रप्रभ/५६



करते हैं। आज सुबह एक महिला कह रही थी जब ध्यान करते हैं तो आसपास क्या हो रहा है बहुत सुनाई देता है। तुम यहाँ अड़ोस-पड़ोस को सुनने आए हो या स्वयं को देखने-सुनने आए हो। आसपास से मतलब है या अपने आप से मतलब है? यह समूह तो इसलिए है कि समूह में सब कुछ होता रहे लेकिन फिर भी तुम अपने में जी सको और स्वयं को देख-सुन सको। जब ध्यान में कोई अनुभूति हो जाए तो ऐसे लोगों से मत कहो जो स्वयं ही अपरिपक्व स्थिति में जीते हैं। अगर कह दोगे तो लोग तुम पर हंसेंगे। तुम्हारी खिल्ली उड़ायेंगे, मजाक बनाएंगे। अपरिपक्व लोगों को अपना अनुभव सुनाओगे तो तुम्हारा अनुभव भी आधा-अधूरा हो जाएगा।

मैं देखता हूँ लोग बहुत खिल्ली उड़ाते हैं। मेरी दृष्टि में तो दूसरे की खिल्ली उड़ाने से बड़ा पाप और कोई नहीं है। किसी के साथ मजाक, मनोविनोद तो किया जा सकता है, लेकिन किसी की खिल्ली उड़ाने का अधिकार आपको नहीं है। किसी के साथ संवाद करने का अधिकार तो है, पर गाली देने का नहीं। किसी से प्रेम करने का, पुचकारने का, गाल पर हाथ फेरने का हक तो है लेकिन चाँटा मारने का हक नहीं है। प्रेम दे सकते हो तो दो, संवाद कर सकते हो तो करो, लेकिन किसी की खिल्ली तो मत उड़ाओ। सलीका रखो, अदब रखो।

सलीके का मजाक अच्छा, करीने की हंसी अच्छी  
अजी, जो दिल को भा जाए वही बस दिल्लगी अच्छी।

हंसी, मजाक कुछ भी हो लेकिन एक सभ्यता, मधुरता, ऐसी मिठास होनी चाहिए कि व्यक्ति आपकी मजाक से प्रफुल्लित हो, मजाक को शरारत न समझे।

दूसरों में सुख मिल सकता है वशर्ते हमें स्वयं से अपने आप से सुख ग्रहण करने की कला आ जाए। स्वयं से सुख और आनन्द घटित करने की कला आती हो तो दूसरों से भी सुख मिलेगा। अगर स्वयं ही तनावग्रस्त हो तो जिससे भी मिलोगे हर कोई तुममें तनाव ही स्थानान्तरित करेगा।

यह बड़ी विचित्र स्थिति है कि हमारा मन परमात्मा तक को बाहर ढूँढना चाहता है। सुख को भी बाहर ही ढूँढना चाहता है। वह दसों दिशाओं में घूमता है, भटकता है लेकिन सिर्फ एक दिशा में मन की पहुंच नहीं है जो दिशा व्यक्ति स्वयं है, उसके अपने भीतर है। कबीर कहते हैं, 'मनवा तो दहुं दिसि फिरै, यह तो सुमिरन नाही'। तुम्हारा मन तो दसों दिशाओं में घूमता है फिर स्मरण कैसे 'स्मरण' हो गया? दसों दिशाओं में परमात्मा को देखो, लेकिन इसका अर्थ यह

परमात्मा : चेतना की पराकाष्ठा/६०

नहीं कि अपनी दिशा में न देखो। हकीकत तो यह है कि जब तक व्यक्ति ने अपनी ग्यारहवीं दिशा में, अपनी अन्तरदिशा में परमात्मा की धड़कन नहीं सुनी, परमात्मा का स्पंदन अनुभूत नहीं किया, जब तक हमारा चित्त विकार-विहीन न हुआ तब तक उसे दूसरे में भी परमात्मा दिखाई दे जाए यह बहुत मुश्किल है। अन्यथा तुम किसी भी धर्म-स्थान में जाओगे मन तो अपनी तरकीवें ढूंढ लेगा। मन का कार्य ही तरकीब निकालना है। जो तरकीवें निकालता रहता है वह मन है।

दूसरे के मन के मुताबिक कोई बात कह दी तो वह करने को तैयार हो जाएगा। अगर मन मुताबिक बात न हुई तो वह तरकीवें ढूंढेगा। मैंने सुना है, एक पोते ने अपने दादा से पूछा आप घर में कुकर क्यों नहीं ले आते? दादा ने कहा, बेटा इसलिए क्योंकि कुकर दिन-दहाड़े अपनी वहू-वेटियों को सीटी बजाता है। मन खूब तरकीवें निकाल लेता है। उसे कुकर नहीं लाना है तो वैसी तरकीब सोचेगा और लाना है तो पैसे के इन्तजाम की तरकीब सोचेगा।

ध्यान का कार्य मनुष्य को अपनी ही अन्तर-दिशा की ओर प्रेरित करना है। जब कोई व्यक्ति अपनी ही अन्तर-दिशा में झांकता है और पूछता है 'मैं कौन हूँ' 'कोऽहम्' तो एक जवाब आता है। हकीकत में अगर जानना चाहते हो तो देखो। आज जो स्थिति है। आज तुम बूढ़े हो साठ वर्ष के। अपने भीतर झांको और पूछो 'मैं कौन हूँ', 'मेरा अतीत क्या रहा?' तो पता चलेगा कि पहले मैं युवक था। इससे पहले क्या थे एक चंचल बच्चा, बच्चे से पहले क्या थे? माँ के गर्भ में रहा। माँ के गर्भ में जब प्रवेश कर रहे थे तब सिर्फ एक अणु थे। अणु से पहले, वीज से पहले क्या थे, वो थे जो आज तुम स्वयं हो। आज तुम जो भी हो एक वीज के विस्तार हो। एक अणु के विस्तार हो। यह अणु इतना विराट हो सकता है। और जब एक अणु, एक पुद्गल फैलते-फैलते इतना बड़ा हो सकता है तो अपनी अन्तश्चेतना जाग्रत हो जाए तो वह परमात्मस्वरूप क्यों न हो पाएगी।

अभी तो परमात्मा की प्रार्थना भी किताबों की पढ़ी-लिखी प्रार्थना है। अभी जो दोहराते हो वह शब्दों का दोहराना है परमात्मा के प्रति प्यास नहीं है। किसी ने कहा और मंदिर जाना शुरू कर दिया। अपनी प्यास से मंदिर नहीं गए। आलमारी की किताबों ने कितना वोझ कर दिया है। हमारे भीतर सत्य की अभीप्सा, कहीं कोई प्यास जन्म ही नहीं ले पा रही है। हमारी प्यास दमित इच्छा की तरह हो गई है। हमारी अभीप्सा भीतर की अन्तरात्मा में कुंठित और दमित

हो गई है। ध्यान का उद्देश्य है व्यक्ति की अभीप्सा, प्यास जग जाए। प्यास ही न हो तो पानी की क्या कीमत? प्यास हो तो चुल्लू भर पानी भी प्यास बुझा सकता है, अन्यथा घड़ा भर पानी भी व्यर्थ है। इसलिए प्यास को जगाना है। प्रार्थना अपने आप जन्मेगी। अभीप्सा पैदा करना है, पानी स्वतः निपजेगा। किताबों और कोषों में तुम्हें प्यास शब्द मिल जाएगा। पानी की परिभाषा मिल जाएगी। पर प्यास तो तभी उठती है, जब हम अन्तर का अवलोकन करें, निरीक्षण करें। अन्तर ही क्यों, जगत् का भी निरीक्षण करो। देखो और फिर जो देखा है, उसके बारे में मनन करो, प्यास इसी तरह उठती है। किसी की शवयात्रा देखी, यह दर्शन हुआ। उस पर सोचो, तो लगेगा, यह मेरी ही शवयात्रा है, या एक दिन मेरी भी ऐसी ही अर्थी निकलेगी। यह ज्ञान हुआ और इस ज्ञान का जो परिणाम होगा, वह है प्यास।

मुझे सुन रहे हो, यह श्रवण हुआ। मनन करो, तो प्यास पनपेगी। मेरा काम प्यास जगाना है। मेरे यहाँ से जाने के बाद, मेरे लिए तुम्हारे भीतर जो तड़फन जगती है, यह शुभ है। मेरा काम पूरा हुआ। मुझे जो लौ तुम्हारे भीतर जगानी है, वह मैं जगा चुका और वह है प्यास। अपना उद्देश्य तो प्यास की लौ को जगाना है।

इतनी प्यास हो कि बिना पानी के आदमी तड़फने लगे। जब इतनी प्यास जगती है तभी गुरु से कुछ प्राप्त करने की पात्रता अर्जित होती है। जब सद्गुरु पहचान लेता है कि इसके भीतर इतनी प्यास, अभीप्सा और महत्वाकांक्षा है तब वह स्वतः बिन मांगे अपना उंडेल देता है। 'बिन मांगे मोती मिलै, मांगे मिलें न चून।' अपने आप उपलब्ध हो जाता है पात्रता होने पर।

अभी तो आप मंदिर भी परमात्मा के लिए नहीं जाते हो। संसार को पाने के लिए मंदिर जाते हो। कहीं कोई मुकदमा चल रहा है वह न हार जाओ इसलिए मंदिर जाते हो। अभी दुकान में बहुत घाटा लग रहा है, परमात्मा के मंदिर में जाने से शायद घाटा कम हो जाए। अभी तो शादी नहीं हुई है मंदिर जाने से कहीं कोई जुगाड़ लग जाए। इस तरह तुम परमात्मा के चक्कर लगा रहे हो। जब धन से हार गए तो धर्म का दामन पकड़ लिया। सुख तुम्हें छोड़कर चला गया तो मंदिर का दरवाजा पकड़ लिया। जब तुम अपने दम पर प्रतिष्ठा न करवा सके तो बोलियाँ और चढ़ावा बोलकर धन को प्रतिष्ठित करने की तरकीब ढूँढ निकाली। जब अपने बलबूते पर अपने पद पर न बैठ सके तो राजनीति की कुर्सी की तरह पदों के पीछे दौड़ने का सिलसिला शुरू कर दिया।

परमात्मा : चेतना की पराकाष्ठा/६२

भला कोई आदमी सेवा के लिए राजनीति में आता है? सेवा के लिए नहीं, पदों के लिए आता है। अगर पद मिल गया तो अहंकार फूल गया अन्यथा धर में ही रह गया। अभी तो आप मंदिर भी जाते हैं, पूजा में भी जाते हैं पर ईमानदारी से पूछिए स्वयं से, क्या सचमुच परमात्मा के लिए जाते हैं? तूम पूजा में जाते हो क्योंकि तुम्हारे फलां सम्बन्धी की ओर से पूजा है। इसलिए उस सम्बन्धी के लिए गुजा में जाते हो। अपनी रिश्तेदारी को निभाने के लिए, अपनी सांसारिकता को निभाने के लिए तुम अध्यात्म के केन्द्र पर अपनी दस्तक देते हो। परिणामतः किसी को पता चल जाए कि यहाँ पर स्वामीवात्सल्य है, भोजन का आयोजन है तो पूरा समाज इकट्ठा हो जाता है, जैसे घर में खाना ही न खाते हों। अगर यह पता चले कि कहीं पर धर्म-चर्चा चल रही है, तो मुश्किल से पांच-सात व्यक्ति मिलेंगे वे भी पता नहीं रास्ता भूल गए होंगे। इसलिए कहते हैं धर्म के रास्ते पर वे जाते हैं जो पूरी तरह रिटायर्ड हो गए हैं। समय पास करने के लिए वे लोग मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, स्वाध्याय-केन्द्र इन सबमें जाते हैं। हाँ, अगर यह पता चल जाए कि मंदिर में दर्शन करने के लिए कोई बड़ा नेता आ रहा है, तो फिर देखो सारे के सारे पदाधिकारी और कोई पदाधिकारी नहीं होगा तो भी डंडे खाकर भीतर घुसेगा कि उस नेता के साथ फोटो आ जाए। तो मंदिर में इस परमात्मा की प्रतिमा की क्या आवश्यकता है, उस बड़े नेता की ही मूर्ति लगाओ न, जिनके लिए आते हो।

ऐसा ही हुआ। कोई महारानी किसी मन्दिर में पहुंचने वाली थीं! सभी को सूचना हो गई। मन्दिर में इतनी भीड़, वेशुमार लोग इकट्ठे हो गए कि सम्भालना मुश्किल। जब महारानी मन्दिर पहुंची तो इतने अधिक लोगों को देखकर बहुत प्रभावित हुई कि अरे! मेरे देश में इतने धार्मिक लोग हैं कि इतनी बड़ी संख्या में मन्दिर पहुंच रहे हैं। वह पुजारी के पास पहुंची और बोली - धन्यभाग कि मेरे देश में इतने धार्मिक लोग हैं। पुजारी ईमानदार व्यक्ति था। इसीलिए उसने कहा महारानी आप भूल कर रही हैं यह सोचकर कि आपके देश में इतने धार्मिक लोग हैं। सचाई तो यह है कि इनमें से एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं होगा जो मन्दिर के लिए आया हो। कल आकर देखिए विना किसी को सूचना दिए, तब पता चलेगा कि इनमें कितने भगवान के पुजारी हैं और कितने केवल प्रपंची। इनमें से कोई भी धार्मिक या परमात्मा का पुजारी नहीं है। महारानी को विश्वास न हुआ, वह चली गई। और दूसरे दिन विना किसी सूचना के पुनः आई तो वहाँ कौए भी उड़ते दिखाई न दिए।

तुम्हारी प्यास न हो और परमात्मा भी सामने आ जाए तो तुम परमात्मा को पहचान न पाओगे। महावीर के रहते लोग उन्हें न पहचान पाए, गोलियाँ देते रहे, कीलें ठोकते रहे! जब वे गुजर गए तो सब लोगों ने उन्हें भगवान मानना शुरू कर दिया। व्यक्ति के जीतेजी उसे क्रॉस पर लटकाया जाता है, सुकरात की तरह जहर दिया जाता है, गांधी को गोलियाँ खानी पड़ती हैं। लेकिन जब वह मर जाता है तब धूप-दीप, अगरबत्ती से उसकी पूजा की जाती है! उसके नाम की अखण्ड ज्योत जलाई जाती है। फूल चढ़ाए जाते हैं। जीवित को कोई नहीं मानता। जीते-जी ही मान लो तो शायद कुछ उपलब्धि हो जाए। मरने के बाद तो तुम सिर्फ उनकी तस्वीरों को ढोते हो। जब रात में सोने को तकिया मिला था तब किनारे कर दिया और सुबह तकिए को कंधे पर रखकर सड़कों पर चल रहे हो!

जीवित परमात्माओं की कद्र हर कोई नहीं कर सकता, गृत्यु होने के बाद हरेक परमात्मा का मूल्य आंकता है। हमारे लिए जीवित परमात्मा का मूल्य होना चाहिये। मैं उन सभी परमात्माओं को स्वीकार करता हूँ, प्रणाम करता हूँ जो अतीत में हो चुके हैं। वर्तमान में भी जो भले ही परमात्मा न हों, लेकिन हम उनमें मान सकते हैं, स्वीकार कर सकते हैं तो अवश्य ही स्वीकार किया जाना चाहिए। यह कली ही फूल बनेगी। हमारा परमात्म-स्वरूप स्वयं प्रगट हो। आपको ज्ञान अनुभूति हो रही हो, क्षणिक अनुभूति को भी संजोकर सहेज कर रखिए। वृंद-वृंद से ही घड़ा भरता है। क्षण-क्षण की अनुभूति ही विराट होती है। अगर वृंद की ही उपेक्षा कर दी तो घड़ा कभी नहीं भरेगा। अगर अनुभूति भले ही वृंद के रूप में हो; स्वागत करो, स्वीकार करो। इसकी अगवानी करो, सत्कार करो, क्योंकि यह हमारी अपनी मौलिक उपलब्धि है।

धरती पर सद्पुरुषों की कमी नहीं है, वशर्ते तुम्हारी दृष्टि असत् न हो! बुरे से बुरे आदमी में भी कोई-न-कोई अच्छाई मिल जाएगी। तुम्हारी दृष्टि अगर ठीक है, सत् की ग्राहक है, तो प्रभु की मूर्त सभी ठौर है, सत् सर्वत्र है।

मानव स्वयं एक मंदिर है,  
तीर्थ रूप है धरती सारी।  
मूर्त प्रभु की सभी ठौर है,  
अन्तरदृष्टि खुले हमारी।।

आप अपनी दृष्टि को विराट करें, भूमा को आत्मसात् करें। अन्तरदृष्टि खुले वगैर अगर परमात्मा तुम्हारे सामने प्रगट भी हो गए, तो तुम पहचान ही नहीं

परमात्मा : चेतना की पराकाष्ठा/६४

पाओगे। पहचान के लिए अन्तर्दृष्टि चाहिये, पानी के लिए प्यास चाहिये, अमृत के लिए अभीप्सा चाहिये। अन्तर्दृष्टि खुली तो प्रभु का मन्दिर ठौर-ठौर है, डाल-डाल और पात-पात है।

आप सवके अन्तर्घट में विराजमान परमात्मा को मेरे प्रणाम हैं।  
नमस्कार।

## प्रश्न समाधान



► *सम्यक् ज्ञान किसे कहते हैं और इससे क्या लाभ प्राप्त होता है?*

जब व्यक्ति अपने भीतर छाये अज्ञान को पहचान लेता है तब सम्यक् ज्ञान की शुरुआत होती है। ज्ञान से ज्ञान का प्रारम्भ नहीं होता, अज्ञान की पहचान से ज्ञान का प्रारम्भ होता है। जब व्यक्ति अपने असत्य, अविद्या और मिथ्यात्व को पहचान लेता है तब जीवन के द्वार पर सम्यक् ज्ञान की पहली किरण उतरती है। व्यक्ति का ज्ञान तभी सम्यक् होता है जब वह अपनी अनुभूतियों से गुजरता है। विशुद्ध अनुभव, और अनुभव का विशुद्ध रूप ही सम्यक् ज्ञान है।

मनुष्य का ज्ञान तीन प्रकार का होता है। एक ज्ञान पुस्तकों से, शास्त्रों से या सुनकर प्राप्त किया जाता है, वह श्रुत ज्ञान होता है। दूसरा रूप वह है जिसमें पढ़ने-सुनने के बाद व्यक्ति अपने चिन्तन और मनन से निष्कर्ष निकालता है। तीसरे रूप में चिन्तन-मनन के बाद अनुभव से गुजर कर जो निष्कर्ष निकलता है, वह ज्ञान। कोई भी शब्द चिन्तन-मनन से गुजरकर अपने भाव की तह तक पहुंचकर, भाव के अर्थ को स्पर्श करते हुए अनुभूति के मार्ग से निकल जाता है तब वह ज्ञान सम्यक् ज्ञान हो जाता है।

जब व्यक्ति को ऐसा ज्ञान उपलब्ध होता है तो उसके भीतर एक चारित्र, दर्शन, आत्मश्रद्धा, आत्म-विश्वास प्रगट होता है कि दुनिया हिल जाए लेकिन वह अपने मार्ग से कभी नहीं डिगेगा। क्योंकि जो उसने जाना है वह अटल है।

इसलिए सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति पर जो पहली चीज उपलब्ध होती है वह है हंस-दृष्टि। वह दृष्टि जिससे सत्य-असत्य, विद्या-अविद्या, प्रकाश-अंधकार के भेद को समझा जा सके। जीवन में से दोहरापन चला जाए। कथनी-करनी एक हो जाए। कथनी-करनी की, विचार-कृत्य की एकरूपता मनुष्य-जीवन की आन्तरिक सादगी है। अपने भीतर का विश्वास जगाने के लिए, अपने अस्तित्व के प्रति आस्था जगाने के लिए ज्ञान का सम्यक् और निर्मल होना जरूरी है। व्यक्ति का ज्ञान जितना निर्मल व सम्यक् होगा वह उतना ही सम्यक् रूप से जिएगा, लोक-व्यवहार को सम्यक् रूप से निभाएगा और जीवन को अत्यन्त उत्सव और आनन्द के साथ घटित करता हुआ सम और विषम दोनों ही परिस्थितियों में अपने आप को संतुलित और स्थितप्रज्ञ बनाए रखेगा। यही सम्यक् ज्ञान का परिणाम है। समझदार आदमी अभावों में भी स्वभाव में रहेगा और नासमझ आदमी अनुकूलता के बावजूद विपन्न, खिन्न और तनावग्रस्त रहेगा। नासमझ और अज्ञानी होकर सौ साल जीने की अपेक्षा समझदार और ज्ञानी होकर सौ दिन जीना ज्यादा श्रेष्ठ है।

ज्ञान, ध्यान जितना ही जरूरी है। मैं जिसे सम्बोधि कहता हूं, वह सम्यक् ज्ञान का ही पर्याय है। सम्यक् बोध ही सम्बोधि है। सम्बोधि ज्ञान की सचाई है, सम्यक्त्व है। ज्ञान स्वाध्याय से उपलब्ध होता है, मनन से उपलब्ध होता है, अनुभव से उपलब्ध होता है। जो ज्ञान-वृद्ध है, वह पूज्य है, सम्माननीय है। वृद्ध तो बहुतेरे होते हैं, पर जिसे सही अर्थ में वृद्ध कहा जा सके ऐसे वृद्ध कम होते हैं। उम्र से बूढ़ा होना बुढ़ापा है पर ज्ञान को जीना बन्धन-मुक्ति है। इस हैसियत से बूढ़े बूढ़े होकर भी बच्चे जैसे हैं और बच्चे उम्र से बच्चे होकर भी वृद्ध हैं।

धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, उचित-अनुचित, लोहा-सोना, करणीय-अकरणीय - सब के बीच भेद-रेखा खींचने वाला ज्ञान है। जिसकी आत्मा की सुई ज्ञान के धागों में पिरोई हुई है, वह संसार के पचरे और कचरे में गिरकर भी खोती नहीं है, मिल जाती है। ज्ञान अगर सम्यक् है, सत्य, शिव, सुन्दर

चेतना का विकास : श्री चन्द्रप्रभ/६७



है, तो पिंजरे के द्वार अनिवार्यतः खुलते हैं, निरभ्र गगन में मुक्त विहार होता है - आज भी, भविष्य में भी, शाश्वत।

► *ध्यान, धारणा और एकाग्रता का क्या अर्थ है?*

पंतजलि ने योगसूत्र में योग के आठ अंग बताए हैं। ध्यान और धारणा उन्हीं के चरण हैं। योग के आठ अंग हैं - यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

झूठ न बोलना, हिंसा, चोरी न करना, आवश्यकता से अधिक परिग्रह न रखना, मैथुन का सेवन न करना, उनकी मर्यादा रखना यम हैं।

पवित्रता, संतोष, तपस्या और ईश्वर-प्रणिधान नियम के अंग हैं। पवित्रता के लिए जल-स्नान से शारीरिक पवित्रता होती है। स्वाद-त्याग से इन्द्रिय की पवित्रता है और क्रोध-कषाय से मुक्त होने पर आंतरिक पवित्रता होती है। सम और विषम दोनों परिस्थितियों में अपने मस्तिष्क को संतुलित रखना ही संतोष है। स्वाध्याय अर्थात् उन शास्त्रों का अध्ययन करना जिनसे जीवन मूल्यों का निर्माण होता है या स्वयं का आत्म-चिन्तन करना। जीवन को जीते हुए जब संघर्ष की स्थिति आ जाए तो उस स्थिति को हंसते-हंसते स्वीकार करना ही तपस्या है। नियम का पांचवां अंग है ईश्वर-प्रणिधान अर्थात् ईश्वर के प्रति भक्ति।

योग का तीसरा अंग है आसन। जिस बैठक में आप सुख-सुविधा पूर्वक लम्बे समय तक बैठ सकें, उस बैठक का नाम ही आसन है।

और प्राणायाम, अपनी प्राणवायु को अपनी श्वास को एक संतुलन और तारतम्य प्रदान करना है। प्राण + आयाम। आयाम का अर्थ है सीढ़ी। सोपान। प्राण हम भीतर ले रहे हैं, लेकिन भीतर ले जाकर रोकते हैं और बाहर छोड़ते हुए भी रोकते हैं। बाहर और भीतर रोककर हम वायु को आयाम, सोपान देते हैं। हम दो श्वासों के मध्य जितना अधिक अवकाश देते हैं उतने ही हमारे विकल्प कम होते हैं, समाप्त होते हैं। श्वास के साथ हमारी प्रत्येक नाड़ी, चित्त, मन सभी सक्रिय हो जाते हैं। यदि हमने प्राणायाम के मध्य, दो श्वासों के बीच अवकाश रखा तो दो विकल्पों में अवकाश रहेगा और हम निर्विकल्प होंगे।

प्रत्याहार का अर्थ होता है अपने चित्त को सांसारिक क्रिया और प्रतिक्रिया से लौटा लाना। जिसे महावीर ने प्रतिक्रमण कहा है वही पंतजलि की

भाषा में प्रत्याहार है। लौट आना, वापस हो जाना, अपनी इंद्रियों का अपने वश में हो जाने का नाम प्रत्याहार है।

जब हमारा ध्यान, संकल्प अपने ही ध्येय को ग्रहण कर लेता है, स्वीकार कर लेता है इस ग्रहण करने के भाव को धारणा कहते हैं। तीन चीजें हैं- ध्याता, ध्यान और ध्येय। जब हमारा ध्यान चित्त से जुड़ता है और अपने आप में लौट आता है, अपने ध्येय को स्वीकार कर लेता है, संकल्पित हो जाता है तो वह चीज धारणा होती है। ध्याता और ध्येय के सम्बन्ध का नाम ध्यान है। अर्थात् धारणा ध्येय को स्वीकार करना है और ध्यान ध्येय के साथ एकरूप, एकरस, एकसम हो जाना है।

जहाँ ध्याता, ध्यान और ध्येय के बीच एकरूपता घटित हो जाती है, वहीं समाधि होती है। जब तक ध्यान, ध्यान रहता है तब तक ध्याता और ध्येय के बीच सम्बन्ध तो होता है लेकिन दोनों एक नहीं होते। जहाँ ध्याता और ध्येय दोनों एकरूप हो जाते हैं वहीं समाधि घटित होती है। ऐसी समाधि घटित होती है कि पंतजलि कहते हैं उसका परिणाम होता है प्रज्ञा।

एकाग्रता का अर्थ है अपने ही ध्येय के प्रति संकल्पित, एकनिष्ठ हो जाना। एकाग्रता मन की वह स्थिति है जहाँ मन ध्येय में विलीन, विसर्जित, स्थिर चित्त हो जाता है। एकाग्रता प्रयास से करो, तो रह-रह कर खंडित हो जाती है। तन्मयता का सहज परिणाम है एकाग्रता। तन्मयता हो, तो ध्यान, धारणा और एकाग्रता—तीनों बिना किसी प्रयास के घटित हो जाते हैं। तन्मयता मस्ती है, रस है, उत्सव है। करते-कराते, जुड़ते-जुड़ाते, होते-होते अपने आप हो जाती है तन्मयता। तन्मय होकर ध्यान करो, तो ध्यान तुम्हारे लिए अमृत है, अनुभूति जन्य है, भीतर के शून्य में उतरने में सहकारी है। ध्यान में तन्मयता हो, तो ध्यान भीतर के विज्ञान से रू-ब-रू करवाता है, चेतना का सहज विकास करवाता है। भीतर के सोये स्वामी को जगाता है। हमारी वास्तविक क्षमताओं को उजागर करता है।

► पहले गुफाओं में रहने वाले सन्त-महात्मा लोग ध्यान-योग किया करते थे, जबकि आप इसे सार्वजनीन बनाना चाहते हैं?

जो समझते हैं कि ध्यान केवल ऋषियों-मुनियों और गुफावासियों के लिए है तो उनकी समझ मोटी है और दृष्टि एकान्त-संकीर्ण है।

चेतना का विकास : श्री चन्द्रप्रभ/६६

ध्यान किसी का एकाधिकार नहीं, वरन् मानवाधिकार है। आखिर ऋषि-मुनि, गुफावासी भी मनुष्य ही हैं। राग-द्वेष के जोड़-तोड़ और उठापटक केवल ऋषियों को ही समाप्त करने हों, ऐसा नहीं है। मनुष्य मात्र के लिए सृजन का मार्ग है। विध्वंश का मार्ग संस्कृति का आधार कभी नहीं हो सकता। सृजनशील प्रतिभा द्वारा अगर विध्वंश भी होगा, तो नये सृजन के लिए और विध्वंशक मनोवृत्ति के द्वारा सृजन भी होगा तो उसके पीछे विध्वंश-विस्फोट की वृत्ति होगी।

ध्यान का मूल उद्देश्य है, मनुष्य को पूरा मनुष्य बनाना। किसी को हिन्दू, जैन, बौद्ध, ईसाई बनाना ध्यान की यात्रा का लक्ष्य नहीं हो सकता। अच्छा हिन्दू, अच्छा जैन होने से अच्छा इंसान प्रकट नहीं हो सकता। एक इंसान 'बेहतर' इंसान बनेगा, तो वह स्वतः अच्छा हिन्दू, अच्छा जैन, अच्छा बौद्ध हो जाएगा।

मनुष्य के भीतर शैतान भी है, इन्सान भी, और भगवान भी है। नरक और स्वर्ग मनुष्य के मन की ही अलग-अलग प्रतिकृतियाँ हैं। मनुष्य का संस्कारित मन स्वर्ग है और विकृत मन नरक। मुक्ति मन के स्वर्ग-नरक के दोनों पहलुओं से ऊपर उठ जाने का नामकरण है।

भगवान, मनुष्य की श्रेष्ठतम, महानतम स्थिति है। उसका इंसान बने रहना, उसकी सहज, पर अच्छी अवस्था है। शैतान 'इंसान' की गिरावट है। इंसान की उन्नत अवस्था 'भगवान' है। और 'पतन' अवस्था शैतान। ध्यान शैतान को इंसान और भगवान बनाने की युग-युगीन मानवीय कला है।

मनुष्य और जगत के बीच परिपूर्ण सम्बन्ध है। मनुष्य केवल अन्तर्मुखी नहीं रह सकता। वह केवल बहिर्मुखी होकर भी चैन से नहीं जी सकता। जीवन की पूर्णता किसी से टूटने में नहीं, सबसे जुड़ने में है - स्वयं से भी, जगत से भी। मनुष्य तो देहरी का दीप है, जिसे अन्तर्जगत को भी प्रकाशित रखना है और बहिर्जगत को भी। भीतर-बाहर का द्वैत भी क्यों, सम्पूर्ण जगत को ही प्रकाशित करना है। आखिर जगत उसी की तो प्रतिध्वनि है।

मनुष्य जगत् से हटकर नहीं है। ऋषि-मुनि भी जगत् में रहते हैं। धरती के जहाज में सभी सवार हैं। आखिर न घर धरती से अलग है और न गुफा। ध्यान सार्वजनीन है, सारी मानवजाति के लिए ग्राह्य मानस-विज्ञान

और जीवन का आध्यात्मिक, पर अनिवार्य मूल्य है।

जीवन की ऊर्जा और शक्ति का अधिकाधिक जागरण और उपयोग हो, इसी में जीवन का अर्थ है। जीवन में जागरूकता, संतुलितता, सक्रियता, उपयोगिता और प्रसन्नता का विकास न केवल सार्थक जीवन मूल्य है, अपितु यही ध्यान का अभिप्राय है। मनुष्य का रचनात्मक और सृजनात्मक होना, न केवल स्वयं मनुष्य के लिए अपितु सामाजिक और सांस्कृतिक तकाजा है।

कंठी वाले की गुफा में खूंटी पर लटकी झोली में ध्यान का दम घुट रहा है। जगत से हटने-हटाने के प्रयास में कहीं उसकी निर्मम हत्या न हो जाये। ध्यान को धरती का खुला प्रांगण चाहिए, अनन्त आसमान चाहिए, ताकि वह फूलों के मुरझाये से चेहरों को फिर से खिला सके, मनुष्य को फिर उसके ही अमृत से सींच सके।

नमस्कार।

# 5

## चलें, सागर के पार

मेरे प्रिय आत्मन्,

**मैंने** सुना है, एक व्यक्ति प्रभु-परमात्मा की खोज में सारी पृथ्वी की परिक्रमा कर रहा था। परिक्रमा के दौरान उसे एक वृद्ध संत मिले। संत के चेहरे पर चेतना का अलख जग रहा था। एक अनोखा आभामंडल था। दुनिया की मुस्कान से अलग मुस्कान थी।

उस व्यक्ति ने संत से निवेदन किया मैं आपके साथ रहना चाहता हूँ। आप ही के साथ जीना चाहता हूँ। संत ने कहा तुम मेरे साथ रह सकते हो लेकिन एक शर्त पर कि मैं जो कुछ भी करूँ तुम उसके बारे में कोई प्रश्न नहीं करोगे। जिस दिन भी तुमने मेरे कृत्य के बारे में पूछा, मैं तुम्हें भगा दूंगा। उस ने शर्त स्वीकार कर ली। आखिर वह प्रभु को पाना चाहता था।

दोनों साथ-साथ चल पड़े, गांव-जंगल पार करते हुए नदी किनारे पहुंचे। वहाँ पर एक नौका में सवार होकर दूसरे किनारे की ओर बढ़ने लगे। तभी उस व्यक्ति ने देखा कि उस वृद्ध संत ने नौका के एक कोने में छेद करना शुरू कर दिया है। वह चौंका, डरा भी, पर चुप रहा।

।।व किनारे लग गई, वे दोनों उतर गए और आगे बढ़ गए। पर उस व्यक्ति के मस्तिष्क में उथल-पुथल मची हुई थी। वह और अधिक धैर्य न रख सका और पूछ ही बैठा कि आखिर उन्होंने ऐसा क्यों किया? एक तो नाविक ने पार लगाया और आपने उल्टे उसी की नाव में छेद कर दिया? उपकार का बदला अपकार से दिया? संत ने कहा तुमने प्रश्न पूछकर शर्त भंग की है। अब तुम तुरंत चले जाओ। मेरे साथ एक मिनट भी नहीं रह सकते। व्यक्ति को अपनी भूल का भान हुआ, उसने क्षमा मांगी और भविष्य में ऐसा न करने का वचन दिया। क्षमाशील संत ने साथ रहने की अनुमति दे दी।

चलते-चलते वे नगर में पहुंचे। वहाँ के राजा ने जब संत के आगमन का समाचार सुना तो प्रसन्न हृदय से उसका स्वागत किया। कई दिनों तक धर्मसभाएं, प्रवचन इत्यादि हुए। राजा बहुत प्रभावित हुआ। जब संत ने जाने की इच्छा प्रकट की तो राजा ने राजकुमार को विदा करने के लिए भेजा। राजकुमार संत को जंगल तक पहुंचाने गया। जंगल में पहुंचाकर जब कुमार वापस आने लगा तो संत ने एकाएक उसका हाथ मरोड़ा और हाथ तोड़ डाला और व्यक्ति से कहा अब तेजी से भाग चलो।

वह व्यक्ति बहुत क्रोधित हुआ। उसने आगे बढ़ने से इनकार कर दिया। उसने कहा तुम खतरनाक आदमी लगते हो। पहले तुम्हें मेरे प्रश्नों का उत्तर देना ही होगा - तुमने नाव में छेद क्यों किया? और इस सुन्दर से राजकुमार का हाथ क्यों तोड़ा? तुम कितने निर्दयी हो? इतने दिन राजा के यहाँ सम्मान और सत्कार पाते रहे और बदले में उसे क्या दिया? राजकुमार का हाथ तोड़कर दुःख और पीड़ा? मेरा तुम्हारे साथ तभी निर्वाह होगा जब तुम मेरे प्रश्नों के उत्तर दोगे।

संत ने कहा मैं उत्तर भी दूंगा और तुम जाने के लिए भी तैयार हो जाओ। पहले नाव की बात सुनो। मांझी वहाँ से रवाना होकर गांव चला जाएगा। कुछ देर में उस गांव में डाकू आने वाले थे। मैंने नौका में छेद इसलिए किया था कि डाकू नाव का उपयोग कर भाग न सकेंगे और पकड़े जाएंगे। जाकर पता लगा लेना और राजकुमार, यह भविष्य में आतताई बनेगा। राजा होकर नर-संहार करेगा, क्रूरतम अत्याचार करेगा। मैंने हाथ इसलिए तोड़ा कि इस देश का नियम है कि राजा वही बन सकता है जिसका अंग खंडित न हो।

हमें सिर्फ प्रकट ही दिखाई देता है, अप्रकट नहीं। हमारी दृष्टि केवल व्यक्त पर ही टिकी हुई है, अव्यक्त पर नहीं। अव्यक्त और भविष्य को देखने के लिए गहरी अन्तरदृष्टि चाहिए। जब तक अभिव्यक्ति को महत्व दोगे, अनुभूति तक

नहीं पहुंच सकोगे। खाली के खाली, रीते पात्र रह जाओगे और अपने ही अर्थ लगा लगे।

हर वस्तु के दो पहलू होते हैं—दृश्य और अदृश्य। दृश्य वह जो तुम्हें साधारण आँख से दिखाई देता है। दृश्य भी सभी को एक जैसा नहीं लगेगा। जैसी जिसकी मनःस्थिति, वैसा ही वस्तु-दर्शन। वह उसमें भी अपनी संभावनाएं, अपने विचार, अपने तर्क लगा लेगा। दृश्य तो तुम्हें पुस्तकों, शास्त्रों, कोशों में मिल जाएंगे लेकिन इनसे मूल न हासिल होगा, केवल तुम्हारी तर्कशक्ति बढ़ जाएगी। लेकिन अदृश्य तो जो जीता है उसमें मिलेगा। उसकी अन्तरदृष्टि की जीवन-शैली से अदृश्य बाहर आएगा। तुम्हें उनके शांति के निर्झर, करुणा-मैत्री के स्वर सुनाई नहीं देंगे। तुम मन के मायाजाल में ही इतने खोए हो कि सद्गुरु को पहचान ही नहीं पाते। तुम्हारा अंधकार इतना सघन है कि कोई किरण तुम तक पहुंच ही नहीं पाती।

मैं वह दृष्टि देना चाहता हूँ जो आपको प्रकाश की पहचान दे सके। एक अंधे को कब तक इस पार से उस पार तक पहुंचाते रहोगे? एक बार पहुंचा दिया, दो बार पहुंचा दिया क्या जिंदगी भर पहुंचाते रहोगे? बार-बार पार पहुंचाने के बजाय उसे वह दृष्टि दिलाने का प्रयास करो कि वह स्वयं ही इस पार से उस पार, इस पथ से उस पथ पहुंच सके। इसलिए मेरे पास न कोई तंत्र है, न मंत्र है, मेरे पास तो वह कला है जो दृष्टि खोल सके। वह जानकारी है, वह सम्बन्धि है कि जब दृष्टि खुलती है तो अंधकार में भी चल सकते हो और अगर दृष्टि नहीं है तो प्रकाश चाहे कितना भी अधिक क्यों न हो हर राह पर अंधकार ही रहेगा। प्रकाश की पहचान के लिए दृष्टि जरूरी है। अंधे के लिए हर प्रकाश अंधकार है। आपके पास आंखें हैं। प्रकाश ही नहीं अंधकार को पहचानने के लिए भी आंखें चाहिए। आंखों के कारण ही प्रकाश और अंधकार का अर्थ है। हम सोचते हैं कि अंधे के लिए तो सब अंधकार है, पर नहीं। उसके लिए न प्रकाश है, न अंधकार है। दोनों ही नहीं है। अंधकार हो या प्रकाश, दोनों के लिए ही दृष्टि अनिवार्य शर्त है।

हमारे जीवन में ऐसी कौनसी संभावना है, ऐसा कौनसा तत्व है जिसे हम भगवान कह सकें, प्रभु कह सकें, भगवान के रूप में पहचान सकें? क्या हमारा यह शरीर है जिसे हम प्रभु कह सकें? नहीं, इस शरीर को हम मंदिर कह सकते हैं पर प्रभु नहीं। यह शरीर द्वार हो सकता है पर परमात्मा नहीं। केवल हमें ही नहीं पशुओं को भी शरीर मिला है। पशु भी शरीर वाले होते हैं। तो क्या हमारे

चलें, सागर के पार/७४

भीतर जो मन है, उस मन को हम प्रभु समझें? नहीं, मन भी ऐसा नहीं है जिसे प्रभु कह सकें। शरीर तो पशुओं के है पर उनमें मन नहीं है, और हमारा शरीर भले ही पशुओं जैसा न हो, पर मन तो पशुवत् ही व्यवहार करता है। निश्चित ही मन तो पशुओं जैसा है।

अपने मन का अवलोकन करने पर तुम पाओगे कि जैसे बैल किसी को देखकर सींग मारने दौड़ता है, कुत्ता रात्रि में भौंकने लगता है, विल्ली दूध पर झपट पड़ती है, सांप दूसरे पर अपना जहर उगलने को तैयार रहता है, उसी तरह तुम्हारा मन भी व्यवहार करता है। तुम्हारे मन में न जाने कितनी घृणा, कितना वैमनस्य, कितना क्रोध भरा हुआ है। मन और मस्तिष्क के बीच कहीं कोई संतुलन ही नहीं है। मस्तिष्क में तो सूचनाएं और ज्ञान भर रहे हो और मन में पशुता जारी है। ज्ञान और पशुता का कहीं कोई सेतु है ही नहीं। दूसरों पर, नौकरों पर चीखने, चिल्लाने की आदत यानी कुत्ता मन में बैठा है। चिड़चिड़ाने की आदत, दांत किटकिटाने की, खिसियाने की आदत, यानी बन्दर भीतर बैठा है। दूसरों का सिर फोड़ने की प्रवृत्ति, यानी सांड। अमृत को भी जहर बनाने की प्रवृत्ति यानी सांप। धन-लोभ-लालच में धंसा रहना यानी कीड़ा, कीचड़ का कीड़ा। ऐसा है मन!

मन लोभी, मन लालची,  
मन चंचल, मन चोर।  
मन के मत चलिए नहीं,  
मन को कहूं न ठौर।।

मन में तो पशुता भरी है, फिर प्रभुता! मन की दो ही सम्भावना — या तो पशु या फिर प्रभु। जो प्रभु से गिरा, वह पशु। जो पशु से उबरा, वह प्रभु। जी ओ डी गॉड और डी ओ जी डॉग। पतन और उत्थान के ये दो छोर हैं। तलहटी या शिखर। पतन या उत्थान। दुलमुलपन नहीं चलेगा।

और देखते नहीं हमारे भीतर पशु और प्रभु का कैसा संघर्ष चल रहा है? प्रभुता पर पशुता कैसे दुश्वार हो जाती है? अंधकार चिराग पर कैसे हावी हो जाता है? आखिर ऐसी कौनसी चीज है जिसे हम प्रभु कह सकें? और वे कौनसे कारण हैं जिनकी वजह से हमारे भीतर इतना वैमनस्य, घृणा, क्रोध, द्वेष बार-बार उभर आते हैं। आदमी नहीं चाहता कि वह बुरा सोचे या बुरा करे, लेकिन फिर भी बार-बार वह बुरा सोचता है और बुरा करता है।

आपका यह साफ-सुथरा दिखाई देने वाला चेहरा, दिन में कितनी बार

चेतना का विकास : श्री चन्द्रप्रभ/७५



बदल जाता है, पता ही नहीं चलता। एक दिन में कितने रूप हो जाते हैं, कुछ मालूम है? हर क्षण, हर समय तुम्हारे चेहरे बदलते रहते हैं। इतना बदलता हुआ व्यक्तित्व, इतने बदलते हुए रूप? सुबह जिसे विल्कुल शान्त, शालीन, प्रसन्न देखा दोपहर में उसे क्रोध से तमतमाते हुए लड़ते-झगड़ते, एक-दूसरे की कांट-छांट करते हुए देखते हैं। पहचान ही नहीं पाते क्या यह वही व्यक्ति है? सांझ को वही व्यक्ति शराब की बोतल पीने के लिए मचल रहा है, इधर-उधर डोल रहा है, अपशब्द बोल रहा है, समझ ही नहीं पाते कि यही वह सुबह वाला सभ्य व्यक्ति है! सुबह जो व्यक्ति मंदिर में जाकर वीतरागता की प्रार्थना कर रहा था, निर्वासना होने की प्रार्थना कर रहा था, रात को वही व्यक्ति अपनी कामना-पूर्ति के लिए साधन ढूँढ रहा है। व्यक्ति के इतने रूप बदल रहे हैं कि पता ही नहीं चलता आदमी कब क्या हो जाए।

जो समुद्र सुबह विल्कुल शान्त दिखाई दे रहा था वही वक्त के बदलते ही ऐसे ज्वार से भर जाता है कि लहरें-ही-लहरें, तरंगें-ही-तरंगें उठती हैं, नहीं पहचान पाते कि क्या यह वही समुद्र है! व्यक्ति के इतने रूप क्यों बदल जाते हैं? चेहरा नहीं बदलता। आप गोरे हों या काले, आंख-नाक-कान सब कुछ वैसा-का-वैसा रहता है लेकिन तब भी बहुत कुछ बदल जाता है। कई मुखौटे उतर जाते हैं, कई चढ़ जाते हैं। एक पति जो अपनी पत्नी से बहुत प्रेम करता है, उसके विना रह नहीं सकता वह भी अपनी पत्नी के बारे में यह भविष्यवाणी नहीं कर सकता कि उसका अगला पल कैसा होगा। हंसता हुआ चेहरा कब क्रोध में तमतमा उठे, नहीं कहा जा सकता। व्यक्ति इतना बदलता है। आखिर ऐसा क्यों होता है? क्या कारण है?

हर व्यक्ति अच्छा सोचना, विचारना और करना चाहता है। फिर भी नहीं कर पाता। हमारे भीतर ऐसी कौन-सी चीजें छिपी पड़ी है कि हम चाहने पर भी वह नहीं कर पाते, हमारे शुभ संकल्प टूट जाते हैं। जब मनुष्य को खुजली सताती है वह खूब खुजाता है, मस्ती आती है फिर मवाद निकलता है। यह देख कर सोचता है, तकलीफ हुई, जलन हुई। आने वाले कल के लिए संकल्प लेता है अब नहीं खुजाएगा। लेकिन जैसे ही खुजली उठेगी वह सारे संकल्प भूल जाता है। आखिर वे कौन सी वृत्तियाँ हैं जिनके कारण हम चाहते हुए भी अपने संकल्पों के प्रति सुदृढ़ नहीं रह सकते।

मेरे देखे तो हर मनुष्य में संवेग हैं और उन संवेगों के पीछे 'वह' बैठा है, जो कठपुतली को नचाता है, जैसा जी चाहे वैसा। संवेग और संकल्प दोनों

परस्पर विरोधी ताकते हैं। संकल्प आदमी करता है, जबकि संवेग भौतिक ऊर्जा से उत्पन्न होता है। शरीर और मन में भौतिक और चेतनागत ऊर्जा समायी है। मन, प्राण, शरीर और चेतना सब एक-दूजे में घुले-मिले हैं। जब संवेग उठेगा, तो संकल्प धराशायी हो जाएंगे। पर हाँ, अगर हम संकल्प के साथ अपनी इच्छा-शक्ति को संगठित कर लें और अपने संवेगों के प्रति पूर्ण सावचेत रहें, तो चेतना की नौका भीतर के ज्वार-भाटे में थपेड़े नहीं खा पाएगी। इसे समझें।

संवेग यानी संक्लेश। मनुष्य के भीतर दो प्रकार की संभावनाएं रहती हैं जिन्हें हम संक्लेश और असंक्लेश कहेंगे। जब संक्लेश की प्रवृत्ति उभरती है तो मनुष्य क्रोध, वैमनस्य, घृणा करता है, एक दूसरे से लड़ता-झगड़ता है। संक्लेश भरे अध्यवसायों से हम बुरा सोचते हैं, बुरा जानते हैं, बुरा जानने के प्रति उत्सुक होते हैं, बुरा कर डालते हैं। जब हमारे भीतर संक्लेश नहीं होता, असंक्लेश होता है तब हम अच्छा सोचते हैं, अच्छा जानने के प्रति उत्सुक होते हैं, अच्छा करने के लिए तत्पर होते हैं। कोई हमसे कितना भी बुरा करवाना चाहे फिर भी अच्छा करते हैं। यह असंक्लेश की संक्लेश पर विजय है, शांति की शक्ति पर विजय है।

आत्मा के इर्द-गिर्द कषाय का एक तंत्र रहता है, कषाय का वलय रहता है, उसके ऊपर अध्यवसाय उठते हैं, वहीं से संक्लेश के झरने-नाले बहते हैं। वे दिन-रात बहते रहते हैं जागे हुए भी और सोते हुए भी। जब व्यक्ति मूर्छा में होगा तो संक्लेश के सागर से तरंगें उठेंगी और जब व्यक्ति असंक्लेश में होगा अर्थात् जाग्रत/चैतन्य होगा तब मनःस्थिति शान्त और शून्य होगी। वह तब अच्छा सोचेगा, अच्छा जानने के प्रति उत्सुक होगा, अच्छा करेगा अपने-आप। आप अगर सोचें कि अच्छा करूँ, नहीं कर पाएंगे। आप चाहें कि बुरा न सोचूँ, नहीं हो पाएगा। बुरे विचार फिर भी आएंगे। भीतर के सागर में जैसी तरंगें उभरेंगी, व्यक्ति वैसा ही करता चला जाएगा। मन बुरा सोच रहा है, वचन भी बुरे निकलेंगे, शरीर में भी बुराई पनपेगी। मन में क्रोध की तरंग उठी, विचारों में क्रोध का उभार आया और शरीर में क्रोध प्रकट हो गया यानी यह आदमी ने बुरा कर दिया।

संक्लेश से बचने और असंक्लेश को पनपाने के लिए जागृति चाहिए। जागरूकता, अवेयरनेस चाहिए, हर समय ध्यान, योग की स्थिति आनी चाहिए। हम जितना अधिक ध्यान से जिएंगे, ध्यान से बोलेंगे, ध्यान से करेंगे, तब संक्लेश पनपेगा भी मगर असंक्लेश का वजन, ध्यान की गहराई इतनी अधिक होगी कि संक्लेश हावी नहीं हो पाएगा। ऐसा नहीं कि संक्लेश नहीं उठेगा, क्रोध की तरंग

चेतना का विकास : श्री चन्द्रप्रभ/७७

पैदा नहीं होगी या किसी ने बुरा किया तो मन में कोई प्रतिक्रिया नहीं होगी। एक सीमा में होगी, लेकिन वह प्रकट हो उससे पहले जिसे हम अव्यक्त या अप्रकट कहते हैं वह असंक्लेश उस पर हावी हो जाएगा और संक्लेश उभर न पाएगा।

असंवेग, असंक्लेश, अप्रमाद की उपलब्धि चेतना की विकसित शान्तिशील स्थिति की परिचायक है। तुम जितने ज्यादा मूर्छित रहोगे उतने ही अधिक बुरे विचार आएंगे और बुराइयां करते चले जाओगे। आदमी अपनी उन बुराइयों को भुलाने के लिए नशाखोरी करता है, शराब पीता है ताकि अपने दुःख भुला सके। अब इन्हें कौन समझाए। अभी कुछ दिनों पूर्व ही एक आदमी मुझे मिला, मुंह से दुर्गंध आ रही थी। मैंने कहा, क्या तम्बाकू खाते हो? कहने लगा साहब, आदत पड़ गई है और ऐसी आदत पड़ गई है कि जब तक जर्दा न खाए, प्रेशर ही नहीं बनता। अब पूछिए उनसे जो तम्बाकू नहीं खाते वे शौच जाते हैं या नहीं? तम्बाकू का शौच से क्या सम्बन्ध? क्यों स्वयं को सड़ाने-गलाने में लगे हो? बीड़ी-सिगरेट पीकर, तम्बाकू खाकर तुमने ऐसी गलत फहमियाँ पाल ली हैं कि तुम जानते ही नहीं कि इनका तुम्हारे शरीर के साथ कोई तालमेल ही नहीं है। यह तो सरासर तुम्हारी धमनियों में जहर घुलता जा रहा है। तुम्हारे मस्तिष्क को इतना गुलाम नहीं होना चाहिए। तुम्हारा अपने शरीर पर इतना भी नियंत्रण नहीं? कैसे-कैसे पागलपन हमने अपने पर हावी कर लिए हैं। ठीक है आप संसार में हैं, विवाह किया है लेकिन पति या पत्नी दस दिन के लिए अलग हो जाए तो रातें निकालनी मुश्किल हो जाती हैं। अरे, तुमने स्वयं को इतना अनियंत्रण में ले लिया है कि तुम्हारा जीवन पति या पत्नी के कारण जीवित लग रहा है। तुम इतने गुलाम हो गए हो? यह तुम अपने पति या पत्नी के नहीं वासना के गुलाम हुए हो। तम्बाकू या सिगरेट के गुलाम नहीं, अपितु अपनी बुरी आदतों के वशीभूत हुए हो।

ध्यान यह नहीं है कि एक घंटा बैठ गए और किसी प्रक्रिया या विधि से गुजर गए। व्यक्ति का असली ध्यान यही है कि व्यक्ति के भीतर जब कोई बुरी आदत पनपती है उस पर अपना आत्म-नियंत्रण रखे। नहीं खाएंगे, नहीं पीएंगे, देखते हैं क्या मर जाएंगे? मैंने तो यही पाया है कि जो नशाखोरी करते हैं उनके मस्तिष्क के तंतु ढीले पड़ जाते हैं, माइंड लूज़ हो जाते हैं। उन्हें कुछ भी पता नहीं चलता कि वे क्या बोल रहे हैं, क्या कर रहे हैं। अगर किसी ने आकर मुझे खबर दी कि वह आपके बारे में ऐसा अनर्गल बोल रहा था, तो सुनूंगा जरूर, लेकिन पहले जान लेना चाहूंगा कि वह बोलने वाला किन की संगति में है। अच्छा, वह कुसंगति में है: ठीक, कोई बात नहीं, उसका कोई दोष नहीं। फिर

चलें, सागर के पार/७८

में देखता हूँ कि वह कोई नशाखोर तो नहीं है। भांग, तम्बाकू, जर्दा या शराब ऐसी कोई भी वस्तु जिससे मस्तिष्क अनियंत्रित हो जाए, उसका सेवन तो नहीं करता। अगर करता है तब भी वह निर्दोष है क्योंकि वह अपने नियंत्रण में नहीं है। अनर्गलता, उसमें नहीं शराब से आ रही है। हां, अगर स्वस्थ मस्तिष्क से संपन्न व्यक्ति कोई भी बात कहता है, उसकी बात पर गौर किया जाना चाहिए और अगर कोई गौर नहीं करता है तो वह स्वयं नासमझ है।

अस्वस्थ व्यक्ति के द्वारा कही गई सारी बातें अस्वस्थ होती हैं और स्वस्थ व्यक्ति अस्वस्थ बातें कहता ही नहीं। साधु कभी लड़ाता नहीं है और असाधु लड़ाने के सिवा और कुछ करता नहीं। जो दूसरों को लड़ाए और टांग खींचे वह असाधु।

मेरे प्रिय! ध्यान आपके लिए है, आप सबके लिए है, हम सबके लिए है। हमें ध्यान के द्वारा प्रयास, करना चाहिए कि हमारे संक्लेश का महासागर येन-केन-प्रकारेण शान्त हो जाए, ठंडा हो जाए। हम अपने भीतर अच्छे संस्कार और अच्छी आदतें डालें। हमारे भीतर जो बुरे विचार, पाप, दुष्कर्म और कुसंस्कार हैं, उन्हें भूलने का प्रयास करें और अच्छी बातों को लाएं, अच्छी बातें ग्रहण करने की कोशिश करें। अच्छा साहित्य पढ़ें, हमारी दुष्प्रवृत्तियाँ खुद ही सुधरती चली जाएंगी। जहाँ दीप जलता है अंधकार स्वयमेव ही समाप्त हो जाता है। जलते हुए चिराग अंधेरे को नेस्तनाबूद कर देते हैं। इसलिए मैं यही निवेदन करता हूँ आप ध्यान करते हैं तो अपने-आप में जी रहे हैं, स्वयं को संस्कारित कर रहे हैं। यह भूल जाइए कि ध्यान गुफाओं में बैठकर करने वाले संतों या योगियों के लिए है। नहीं, ध्यान आप सबके लिए है।

मैंने ध्यान की जो विधि दी है वह आम आदमी के लिए है। चेतना की शुद्धि, चेतना के संस्कार और चेतना के विकास और रूपान्तरण के लिए है। आप अधिक न कर सकें तब भी प्रतिदिन सुबह व संध्या पैंतालीस मिनट ध्यान कीजिए। अगर आप लोग समूह में कर सकें तो बहुत अच्छा है। ध्यान अकेले में भी किया जा सकता है लेकिन समूह में ध्यान करने के लिए मैं इसलिए अनुरोध करूंगा क्योंकि समूह में करने से दो फायदे हैं - एक तो यह कि इतने सारे लोग मिलकर जब ध्यान करते हैं तो सभी की ऊर्जा मिलकर सघन हो जाती है। एक के शरीर से उभरने वाला आभासंडल/आभा का वलय दूसरे के शरीर को प्रभावित करता है और हम सहज ही चार्ज हो जाते हैं। दूसरा यह कि अगर किसी व्यक्ति की ध्यान में रुचि न भी हो तो वह भी एक-दूसरे को देखकर प्रेरित हो जाता है

चेतना का विकास : श्री चन्द्रप्रभ/७६

कि जब उसमें घटित हो रहा है तो मुझमें क्यों नहीं होगा। तब हम जो परस्पर भाई-बहिन जैसे हैं तब वे ही हमारे प्रथम प्रभु और प्रथम गुरु और प्रथम प्रेरणास्रोत हो जाते हैं। यानी वातावरण बहुत जल्दी चार्ज हो जाता है। आप सभी लोग आगे बढ़ें यही मेरी शुभकामना है, मेरी मौजूदगी हो या न हो। यह आपका अहोभाव है, अहो समर्पण है कि आपको अहर्निश मेरी मौजूदगी का अहसास रहता है। आप उपलब्ध हो रहे हैं, आत्मवान् और अतिशय आह्लादित हो रहे हैं। धन्यभाग! मुझे प्रसन्नता है।

अब कुछ प्रश्न।

---

## प्रश्न समाधान



- ध्यान में लीन होने के लिए ओम् का उच्चारण करना ही जरूरी है? दूसरे शब्द या मन्त्र का उच्चारण नहीं कर सकते? - सीमा चौपड़ा

जरूरत की दृष्टि से सोचो तो जरूरी तो कुछ भी नहीं है, लेकिन किसी चीज को जरूरी बनाना चाहो तो सब चीजों की जरूरत है। कपड़ा पहनते हैं, कोई जरूरत नहीं है। आप बिना कपड़ों के भी रह सकते हैं लेकिन कपड़े आपकी जरूरत है। आप भोजन न करें चलेगा, बहुत से जैनी उपवास के नाम पर डेढ़-डेढ़ सौ दिन तक भोजन नहीं करते पर भोजन आपके शरीर की आवश्यकता है। जूते या चप्पल आप न पहनें तो चलेगा लेकिन पावों की सुरक्षा रखनी है तो चप्पल आपकी जरूरत है। तकलीफ तो तब होती है जब व्यक्ति आवश्यकताओं को भुला देता है, आवश्यकताओं की उपेक्षा कर देता है और इच्छाओं के अनुसार, तृष्णाओं के अनुसार जीना चाहता है।

आपके शास्त्र, आपकी किताबें कहती हैं नंगे पांव चलना चाहिए, लेकिन मेरा अभिमत है कि रबर की चप्पल पहनी जानी चाहिए क्योंकि आज के जमाने में औद्योगिकों ने ऐसी चप्पलों का निर्माण कर दिया है जो आपके पांव से भी ज्यादा नरम होती हैं। उनसे आपके पांवों की अपेक्षा कम हिंसा होगी लेकिन आप चमड़े के जूते-चप्पल पहनते हैं यह हिंसा है। रबर की चप्पल पहनना आपकी आवश्यकता है लेकिन चमड़े के बेहतरीन जूते-चप्पल पहनना आपकी तृष्णा है। भोजन आपकी आवश्यकता है, लेकिन विभिन्न प्रकार के सुस्वादु भोजन करना आप की तृष्णा है। भोजन जरूरी है लेकिन सात्विक, जो मिल जाए। नमक कम है, खटाई नहीं है यह बिना सोचे भोजन करना ठीक है। आपकी जरूरत सिर्फ भोजन है, स्वाद के लिए नमक, शकर, खटाई डालना तृष्णा है। हां अगर आपको गर्मी चढ़ रही है तो नींबू का पानी आपकी आवश्यकता है। कपड़ा पहनना आपकी जरूरत है लेकिन यह रंग, वह स्टाइल यह आपकी तृष्णा है।

जहाँ तक ध्यान की बात है 'ओम्' को अगर मानो तो जरूरी है, न मानो तो कोई जरूरी नहीं है। ध्यान में प्रवेश करने के लिए कोई न कोई प्रवेश-द्वार तो बनाना ही पड़ेगा न? किसी रास्ते पर चलना है तो प्रवेश-द्वार बनाना होगा। मकान में अन्दर जाना है तो भी प्रवेश-द्वार चाहिए। दुनिया में 'ओम्' से बढ़कर अन्य कोई महाप्रवेश-द्वार नहीं हो सकता। दुनिया में जितने भी मंत्र हैं सभी 'ओम्' से निष्पन्न हुए हैं।

हिन्दुओं के तो सारे शास्त्र कहते हैं कि धरती पर सबसे पहले 'ओम्' पैदा हुआ। 'ओम्' कोई शब्द नहीं, सिर्फ ध्वनि है, पराध्वनि। यह तो कंठ का संगीत है। आप इसका उच्चारण करते हैं तब यह शब्द भले ही होता हो लेकिन मेरा प्रयास शब्द से निःशब्द में ले जाने का है। उसे गहराते-गहराते 'ओम्' की सहयात्रा कराते हुए 'ओम्' का अन्तरमंथन कराते हुए, 'ओम्' से मुक्त कर देना है। एक द्वार से दूसरे द्वार तक ले जाते हुए 'ओम्' शब्द से छूट जाना है। पहला द्वार शरीर है, दूसरा द्वार विचार है और तीसरा द्वार मन है। जब हम 'ओम्' का उच्चारण करते हैं, अनुगूँज करते हैं तो शरीर को द्वार बनाते हैं। 'ओम्' के माध्यम से भीतर प्रवेश करते हैं। जब हम सहयात्रा करते हैं तो विचारों को नियंत्रित करते हैं यह दूसरा द्वार है। अन्तरमंथन में मन नहीं बच पाता। श्वास और 'ओम्' का इतना सघन मंथन करते हैं कि शरीर, विचार, मन सब

कुछ छूट जाए। तब आप देखते हैं कि अब तो मन से 'ओम्' भी नहीं आता। वहाँ एक शून्य घटित हुआ, हृदय का मौन घटित हुआ। अमृत निपजा, अहोभाव पैदा हुआ, आनन्द घटित हुआ।

'ओम्' आवश्यक है। जागरण के लिए, ऊर्जा-कुंड के जागरण के लिए ॐ और श्वास अचूक उपाय है। लेकिन अगर आप बिना 'ओम्' के भी ध्यान में प्रविष्ट हो जाते हैं तो आप एक सीढ़ी और आगे बढ़ चुके हैं, आपका स्वागत है।

➤ *मेरे प्यारे प्रभु! जब कोई मजबूरी में या रोजीरोटी की समस्या आने पर जैन धर्म में साधु-साध्वी बनता है, दूसरे प्रकार का व्यक्ति वैराग्य आने पर दीक्षा ग्रहण करता है, दोनों प्रकार के साधु-साधवियों के ज्ञान व दिनचर्या में फर्क होता है। क्यों? - दिलीप शाह*

पहली बात तो मैं यह निवेदन करना चाहूंगा कि दीक्षा मैंने भी ली, कोई पन्द्रह साल पहले। लेकिन जब मुझे ज्ञान हुआ, आत्म-सम्बोधि उपलब्ध हुई, तब मुझे लगा पहले मैंने दीक्षा ली थी और अब मेरे भीतर दीक्षा घटित हुई है। जिनसे मैंने दीक्षा ली वे एक अलग किस्म के गुरु और जिस समय मेरे भीतर दीक्षा घटित हुई तब मैं ही अपना गुरु था। मेरे भीतर किसी ने दीक्षा घटित की नहीं, अपने-आप घटित हुई। इसे पुरुषार्थ समझिये, पौरुष समझिए या साधना समझिए। मेरे देखे दीक्षा कभी दी नहीं जाती, दीक्षा घटित होती है। अगर मैं भी दीक्षा देने का व्यामोह कर लूं तो सैकड़ों शिष्य बना लूंगा पर नहीं, मैं ऐसा नहीं करूंगा। ऐसा करने से मात्र चेलों की जमात बढ़ जाएगी, मगर कोई कहीं पहुँचेगा नहीं। दीक्षा रूपान्तरण है, जीवन-परिवर्तन है। यह कोई वेश-परिवर्तन नहीं है। जीवन रूपान्तरण ही दीक्षा है। इसलिए मैं कहता हूँ दीक्षा सदा घटित होती है। जब-जब भी आपको लगे कि आन्तरिक शून्य घटित हो गया, ऊर्जा का उर्ध्वारोहण हुआ या प्रकाश की लौ प्रकट हुई, शरीर में आग पैदा हुई चाहे जिस प्रक्रिया से, चाहे जिस की मौजूदगी से आन्तरिक आनन्द घटित हुआ, वही हमारा गुरु, उसी के द्वारा दीक्षा सम्पन्न हुई।

मजबूरी या अभाव में दीक्षा लेने वाले और वैराग्यवासी होकर दीक्षा लेने वाले में तो निश्चित रूप से फर्क होगा ही। भूख के मारे जो साधु बनेगा वह साधु-जीवन में केवल भोजन को ही देखेगा। भोजन उसकी आकांक्षा



होगी। वह गृहस्थ के घर जाएगा, वहाँ तरह-तरह की चीजें देखेगा पर उसकी नजर तो रोटी छोड़कर मिठाई, फल पर टिकी रहेगी। गृहस्थ कहेगा महाराज रोटी देऊँ! महाराज कहेंगे नहीं रोटी तो बहुत हो गई, हाँ वह ले लो, वह यानी मिठाई। जो मौनपूर्वक खाते हैं, खाते वक्त बोलते नहीं, सिर्फ इशारा करते हैं, जो भोजन के लिए साधु बनेगा, सभी जानते हैं उसके इशारे किसकी ओर होंगे। क्योंकि वह भूख के कारण साधु बना है इसलिए उसे सिर्फ भोजन ही दिखाई देगा। भूखे को तो भोजन में ही परमात्मा दिखाई देता है। उसे भोजन के अलावा और कुछ नहीं दिखाई देता। आप तो साधु की कहते हैं, अगर आप भी भूखे होंगे तो यहाँ आकर भी, मेरे पास आकर भी यही सब देखना चाहेंगे। नहीं?

मैं संतों का सम्मान करता हूँ। संत में अरिहंत की आभा होती है। संत वह, जो शांत है - उद्वेगों और उत्तेजनाओं से रहित है। मुनि वह जो मौन है, मन के कोलाहल से मुक्त है, स्थितप्रज्ञ है। रोजीरोटी मनुष्य की समस्या हो सकती है, पर रोटी के लिए तुम साधु का बाना पहन लो, यह संत नहीं, तुम्हारा अंत है।

और आज सही संत कम, रोजी रोटी वाले संत ज्यादा मिलेंगे। हिमालय तक में तुम्हें ऐसे संत मिल जाएंगे। गंगोत्री मंदिर के बाहर एक संत को पांच-पांच/दस-दस पैसे मांगते देखा, तो मैंने उससे पूछा कि ये क्या भिखारी का काम करते हो। तुम संत हो, तो .....। जो भी हो, आदमी फिर भी कुछ ईमानदार था। कहने लगा, जी, मैं संत नहीं हूँ। तो फिर ये चोगा क्यों पहना है। कहने लगा, गुरुजी! इसको पहनने से भीख मिलने में थोड़ी सुविधा रहती है।

रोजी-रोटी की समस्या के कारण बना संत, संत नहीं, साधुता का मुखौटा है। यहाँ तक कि न केवल उनका वेश, वरन् त्याग और तप भी ऊपर-ऊपर है, दिखाऊ भर है।

आज से करीब बारह वर्ष पूर्व जब मैं अहमदाबाद में था, मैं नया-नया था और एक संत जो हमारे यहाँ आया करते थे, साल में एक बार भी नहीं नहाते थे, एक बार भी कपड़े नहीं धोते थे, इतने क्रिया-चुस्त कि हम देखकर दंग रह जाते थे। एक वक्त का भोजन करना, एक वक्त पानी पीना, हम देखकर चकित थे। उनके शरीर से गंध आती थी, पर वे नहीं नहाते थे। मैं उनका सम्मान-आदर करता था और यह मानता था कि

शायद ये भगवान के दूसरे रूप होंगे। लेकिन जैसे ही पर्यूपण आए, मुझे सुनने को मिला कि उस संत ने, पर्व मनवाने के लिए जो कल्पसूत्र पढ़ा जाता है, उस कल्पसूत्र को पढ़ने के लिए तय कर रखा है कि दस हजार रुपये लेंगे। मेरे जीवन में, मैंने जो क्रान्तिकारी घटनाएं दूसरों के जीवन में देखीं और जिनसे मैं प्रभावित हुआ, उनमें से एक यह भी है। उसके बाद जब भी वे हमारे यहाँ आए मुझे नहीं लगा कि संत हैं।

जैसे-जैसे जीवन मूल्यों के प्रति, जीवन में ही स्वयं को निहारने के प्रति भाव बढ़ते चले गए, यही पाया कि किसी की भी वेशभूषा से, चर्या से, वह क्या कर रहा है, इतने मात्र से नहीं जाना जा सकता। आप क्या हैं, किस कुल में पैदा हुए हैं, क्या करते हैं, कौनसा व्यवसाय है, बिल्कुल नहीं देखता। नाम भी स्मरण नहीं रखता क्योंकि जानता हूँ नाम भी सारे आरोपित होते हैं। (यहाँ बैठे लोगों में मुश्किल से पांच छः नाम याद होंगे, बस चेहरे सबके पहचानता हूँ।) मेरी समझ से हमेशा व्यक्ति की अन्तरदशा को देखा जाना चाहिए। उस व्यक्ति की आत्मा को देखा जाना चाहिए। महावीर की भी दिनचर्या को देखोगे तो सिवाय समवशरण के, सिवाय देवी-देवताओं की आवाजाही के आपको और कुछ न मिलेगा लेकिन ऐसा देखने से कोई भी व्यक्ति महावीर तक न पहुंच पाएगा। महावीर तक वही पहुंच सकता है जो उनकी अन्तरदशा को पहचान रहा है। मूलतः महावीर की आत्मा क्या है, इसे पहचानने की जिसमें कोशिश है वही महावीरत्व को उपलब्ध करता है। राग, विराग और वीतराग, मेरा विश्वास तो केवल वीतरागता में है, राग से भी ऊपर उठ जाओ, वैराग्य से भी ऊपर उठ जाओ। इतना ही नहीं कि संसार से ऊपर उठो अपितु संन्यास से भी ऊपर उठ जाओ। अपनी अन्तरदशा में जिओ, अपनी अन्तरदशा को सुधारो, उसे निर्मल बनाओ और अपने आप में प्रतिष्ठित होओ। स्वरूप में प्रतिष्ठा ही साधुता की पहचान है।

► *ध्यान में विचार आते हैं, उन्हें आने दें या रोकेँ? - हंस कुमार जैन*

रोकने की भाषा तो मेरे पास है ही नहीं। रोके रोक भी नहीं जा सकता। जो आता है आने दीजिए। मुझे तो प्रभु ने यही ज्ञान दिया है कि यदि तुम्हारे जीवन में प्रतिकूल संयोग आते हैं तो उन्हें भी आने दो और अनुकूल संयोग आते हैं तो उनकी भी अगवानी करो। दोनों का एक ही भाव से

चेतना का विकास : श्री चन्द्रप्रभ/८५

स्वागत करो। व्यक्ति के लिए यही वास्तविक 'सामायिक' है। समत्वबुद्धि का स्वामी होना ही सामायिक है।

जो आता है आने दीजिए। फर्क सिर्फ इतना ही रखना है कि आप उनमें उलझ मत जाना। विचारों के स्रोत आने दीजिए, उन्हें रोकिए मत। रोकना दमन है और दमन भावी विस्फोट की तैयारी हो सकता है। स्प्रिंग को जितना दबाओगे उतनी ही तेजी से वह उछलेगी। ध्यान में विचारों को रोका कि ध्यान आपके लिए तनाव का कारण बन जाएगा। क्योंकि ऐसा कर के दमन कर रहे हो। अगर कोई यह सोचता है कि मैं आग को राख से ढंककर दबा दूँ तो आग बुझ जाएगी? नहीं, राख से दबा दोगे तो कुछ समय के लिए ढंक जाएगी पर हवा का झोंका आएगा, राख उड़ेगी, आग फिर से प्रगट हो जाएगी। इसलिए रोकना नहीं है, चित्त में जो भी यातायात चलता है उससे अलग होकर उसे देखना है, दृष्टा होकर, दर्शक होकर। जैसे हम फिल्म देखते हैं, चित्र आते हैं, चले जाते हैं, पर तुम अलग रह जाते हो।

कुछ व्यक्ति फिल्म के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। वे फिल्म देखते हुए हंसने लगते हैं, रोने लगते हैं, क्रोधित हो जाते हैं यानि कि अब फिल्म उन पर हावी हो गई। अगर एक दर्शक की तरह, दृष्टा की तरह फिल्म को देखते रहे, तीन घंटे बीत जाएंगे, फिल्म सिर्फ फिल्म रहेगी। हमारा मन एक चित्रकार है, वह दिन-रात सपनों को बनाता रहता है। संसार का निर्माण कोई भगवान या परमात्मा नहीं करता, इस संसार का सृष्टा हमारा अपना चित्त है। इसलिए चित्त में जो यातायात चलता है, चलने दो। लेकिन बिल्कुल यही भाव रहे कि मैं उससे अलग हूँ, देखने वाला हूँ कि कैसे-कैसे चित्र आ रहे हैं, कैसे-कैसे विचार आ रहे हैं। दो-तीन मिनट बाद पाएंगे कि विचार धीरे-धीरे शान्त होते चले जा रहे हैं। आखिर उन विचारों को ताकत देने वाले तो तुम ही हो। जब तुमने स्वयं को उन विचारों से अलग कर लिया तो उन्हें शक्ति कहाँ से मिलेगी, वे कैसे आएंगे? चित्त के पास जितनी पौद्गलिक ताकत है, भौतिक ऊर्जा, वह बहुत जल्दी खत्म हो जाती है। पर जैसे ही तुमने अपने-आपको उसमें जोड़ लिया, तुम बह गए, तुम, तुम न रहे सिर्फ विचार हो गए। तब भटकोगे। विचारों की, कल्पनाओं की शृंखला शुरू हो जाएगी। उधेड़-बुन चलती रहेगी। जैसे ही पहला विचार उठे उससे अलग होकर देखो। अरे मैं वहाँ नहीं

हूँ, मैं तो यहाँ ध्यान-कक्ष में हूँ। जैसे ही दुकान का खयाल आया, गुल्लक उठी, बैंक का दृश्य तो पूरा उभर भी नहीं पाएगा कि विचार लटक जाएंगे। वे गिर गए। फिर जो होगा वह ध्यान होगा। तब आप ध्यान में, अपने-आप में जी रहे हैं। आप विचार नहीं हैं क्योंकि आपके विचारे विचार नहीं आते। आप कोई और हैं, और जो अलग कोई और हो जाता है, विचार शान्त हो जाते हैं।

आप दृष्टा होकर चित्त के यातायात को देखिए। द्रष्टा-भाव ही वास्तव में ध्यान की आत्मा है।

### ► मौन से लाभ-हानि? - राजेश शाह

मेरे प्रभु, आपने विषय ऐसा उठाया है, जिसे मौन से ही समझाया जा सकता है। मौन से ही मौन को समझाया जा सकता है। अगर इसके लाभ-हानि देखने हैं तो जब मैं मौन में होता हूँ, मेरे पास आकर सिर्फ आधा घंटा बैठ जाइए। कुछ भी मत करिए, सिर्फ देखिए कि वह मौन आपके भीतर क्या घटित करता है। तब मेरे पास बैठना ही आपके लिए ऐसा हो जाएगा कि आप अनचाहे ही शान्ति के झरने में नहा रहे हैं, अनचाहे ही आनन्द के निर्झर में डुबकी लगा रहे हैं। कुछ ऐसा होने लगेगा, जो सिर्फ मौन से ही सम्भावित है।

मैं चाहता हूँ आप प्रतिदिन मौन अवश्य रखें। यहाँ तक कि जब आप ध्यान करने के लिए बैठते हैं तो उसके आधा घंटा पहले मौन ले लें और ध्यान करने के बाद भी कम-से-कम आधा घंटा मौन में रहें, ताकि ध्यान की तरंग आपके अन्दर बनी रहे। ध्यान की तन्मयता की तरंग को पैदा करने के लिए उसे बनाये रखने के लिए मौन अचूक है। अभी तो आपाधापी में ध्यान के लिए चले आते हैं। दौड़ते-भागते हुए दुकान से, घर से आते हैं और ध्यान किया कि पुनः उसी भाग-दौड़ में शामिल हो जाते हैं। नतीजा यह होगा ध्यान में विचारों-विकल्पों की उठापटक जारी रहेगी। मौन ले लीजिए, ध्यान में प्रवेश करने के लिए, ध्यान की तरंग बनाए रखने के लिए।

मौन लीजिए स्वयं में जीने के लिए। लोग मौन ले लेते हैं। फिर देखिए उनका 'हां-हूँ, हूँ-हां' का वार्तालाप (हंसी)। मौन ले लेते हैं, तब भी वही प्रवृत्ति चालू रहती है। अगर बहुत आवश्यक हो या तुम्हारे बिना काम

चेतना का विकास : श्री चन्द्रप्रभ/८७

नहीं चल रहा है तो दो शब्दों में लिखकर बात बता दो। तुम मौन तो ले लेते हो लेकिन उस दरम्यान जितना लिखते हो उससे कम तो बोलने से ही काम चल जाता। मौन लेकर इतना लिखते हो कि बेहतर है बोल ही लो। मौन अपने में जीने के लिए, अपने विचारों को शान्त करने के लिए। बोलने से जो वचन की ऊर्जा खर्च होती है, उसका पुनः संचय हो जाए, यह भाव अगर है तो विचार भी नहीं उठेंगे। मौन मन को शान्त करने में सर्वाधिक सहचर बनेगा।

मौन वास्तव में मन की चुप्पी के लिए है। जुवान की चुप्पी मौन की व्यावहारिकता है, पर मन की चुप्पी मौन का मूल शास्त्र है। मन की मृत्यु का नाम ही मौन है। मौन ही वह कला है, जो समाज में रहकर भ्रम, समाज-मुक्त जीवन जिलाना सिखाता है। हर व्यक्ति को प्रतिदिन दो घंटे मौन जरूर रखना चाहिये और अगर हो सके तो प्रतिमाह तीन दिन का मौन स्वीकार कर लेना चाहिये। यह त्रिदिवसीय मौन वास्तव में संन्यास है, त्रिदिवसीय प्रौषध है। अगर आत्मा के स्वर सुनने है, भीतर का संगीत सुनना है, तो मौन अनिवार्य है। पहले बाहर से मौन, फिर भीतर से मौन। आत्मिक शांति के लिए मौन से बढ़कर कोई उपाय नहीं है।

एक बात हमेशा खयाल रखो कि मौन के दौरान अच्छी-से-अच्छी या बुरी-से-बुरी कोई भी घटना घटे, मौन खुलने के बाद उसके बारे में कोई प्रतिक्रिया व्यक्त मत करो। अगर प्रतिक्रिया व्यक्त करने के भाव बने रहे तो मौन की कोई सार्थकता न होगी। तुम्हें किसी ने गाली दी, तुम सोचोगे, ठीक है बन्दे, आधे घंटे बाद मौन खुल जाएगा (हंसी), ईंट का जवाब पत्थर से दूंगा (तेज हंसी) एक-एक शब्द का जवाब दूंगा। तब वह मौन, मौन नहीं, भीतर में क्रोध का विस्फोट है। तब आप बोलकर जितना क्रोध प्रकट करते, उससे सौ-गुना अधिक अपने भीतर संचित कर लेते हैं। इसलिए मौन के दौरान किसी ने कुछ भी कहा, कह दिया होगा। अपने तो अपनी मस्ती में मस्त। हाथी अगर यह सोचने लग जाए कि पीछे कुत्ते भौंक रहे हैं तो हाथी चल नहीं पाएगा।

सिर्फ अपने में जीना है। अगर ऐसा है तो मौन सार्थक है। मौन की सही परिभाषा, सही अर्थ, सही लाभ तभी जब स्वयं मौन में होऊं। मेरा मौन ही मैं हूँ और मैं मेरी शान्ति में। बाहरी वातावरण से अप्रभावित रहना, भीतर शांति का अलख जगाना - यही मौन के लाभ हैं।

► *बिना भुगते कर्म से कैसे छुटकारा हो? - अवनी मेहता*

इतनी भी क्या जल्दी है, भई! (हंसी) मुझे पता है तुम छूट नहीं सकते, अगर मैं उपाय बता दूँ तब भी नहीं छूट सकोगे। अगर मैं कह दूँ कि गृहस्थी की छोड़कर आ जाओ, नहीं आओगे। हमें अपने कर्मों से ही इतना प्रेम हो गया है कि हम छूटना ही नहीं चाहते। अगर किसी को उग्र कैद हो गई है और बीस साल बाद उसे जेल से निकालोगे तो वह बाहर निकलना नहीं चाहेगा। वह कहेगा बाहर निकलेंगे तो मेहनत करनी पड़ेगी, सौ दुखः सहने होंगे; नहीं, अपने तो यहीं ठीक हैं, बिन मेहनत का भोजन मिल रहा है।

रूस में जब लेनिन ने क्रान्ति की और सारे कैदियों को, उग्र कैद काट रहे कैदियों को भी मुक्त कर दिया, लेकिन जानते हैं क्या हुआ? सांझ ढली, रात हुई सुबह सारे कैदी अपने आप ही जेल में लौट आए। कहने लगे, रात में सो ही न पाए। पांव में जब तक जंजीरें न हों नींद ही नहीं आती। जेल ही जिनके लिए घर बन गया है भला, वे उस जेल से कैसे मुक्त हो सकेंगे।

मेरे देखे कर्म से मुक्त हुआ जा सकता है। बाहर के संयोगों से मुक्त हुआ जा सके या न हुआ जा सके भीतर के संयोगों से निश्चित रूप से मुक्त हुआ जा सकता है और ध्यान इसके लिए सफलतम प्रयोग है। ध्यान वह प्रयोग है जिसके द्वारा आप अपने कर्मों को, संयोगों को, नियति को स्वयं समझ सकते हैं। बाहरी संयोगों को तो भोगना ही पड़ेगा। अच्छे या बुरे जैसे भी संयोग आते हैं, उन्हें स्वीकार करना पड़ता है। उन्हें बड़े अहोभाव के साथ स्वीकार कर लो। अगर किसी ने तुम्हारी बदनामी कर दी तो उसे भी उतने ही प्रेम से स्वीकार कर लो जितनी अपनी तारीफ को करते हो। कर्म तो तुम्हें तीन दिन तकलीफ देगा, वह तीन मिनट में ही खत्म होना शुरू हो जाएगा। इतना अहोभाव होना चाहिए, इतना स्वागत का भाव होना चाहिए। ठीक ऐसे ही जैसे हमारे घर में अतिथि आता है और जाते समय कुछ डिब्बे मिठाई के देकर जाता है। हम तो यही समझें कि अगर हमारे जीवन में दुष्कर्म का उदय हो रहा है, कर्म आ रहे हैं, प्रतिकूल संयोग, प्रतिकूल नियति का उदय है, हम उनका बड़े प्रेम, अत्यन्त शान्ति और अनन्त धैर्य के साथ स्वागत करेंगे। परिणाम आज नहीं कल

चेतना का विकास : श्री चन्द्रप्रभ/८६

अनिवार्यतः सही होगा, स्वच्छ व निर्मल होगा। समय बलवान जरूर है, पर परिवर्तनशील है। आज जो चक्का नीचे है कल ऊपर होगा और जो ऊपर है आनेवाले कल को नीचे होगा।

कुछ कर्म और कर्म-प्रकृतियां ऐसी होती हैं जो अन्तर्-धरातल के प्रति निरन्तर सचेत रहने से स्वतः नष्ट होती जाएंगी। पर कुछ कर्म ऐसे होते हैं, जिन्हें भोगे बगैर छुटकारा नहीं। हर उपभोग बन्धन है, पर उस उपभोग से कर्म की निर्जरा होती है, वृत्तियों का विसर्जन होता है, जो ध्यान-दृष्टि से, योग-दृष्टि से, सम्यक् दृष्टि से किया जाता है। कुन्दकुन्द ने कहा है योगदृष्टि सम्पन्न व्यक्ति चेतन अथवा अचेतन, जिस भी चीज का सेवन करेगा, भोग-उपभोग करेगा, उससे कर्म विगलित ही होंगे। ध्यान-अनिवार्य मार्ग है योगदृष्टि के लिए, कर्म-मुक्ति के लिए।

➤ *अजपा जप-ध्यान अधिक प्रभावी है या जप के साथ किया गया ध्यान / यहाँ ध्यान में श्वास की गति तेज क्यों करवाई जाती है? - अखिलेश जैन*

इन्होंने दो प्रश्न उठाए हैं। चैतन्य-ध्यान में दो कड़ियाँ है - यों तो पांच चरण हैं। पहले हम समझें जप और अजपा जप में क्या फर्क है। जप उसे कहते हैं जिसमें मन की सक्रियता जारी रहती है। मन के द्वारा, मस्तिष्क के द्वारा जिस मंत्र की स्मृति होती रहती है उसे जप कहते हैं। जहाँ मन शान्त हो जाता है और बिना प्रयास के भीतर के होंठ फड़फड़ाते रहते हैं वहाँ अजपा जप होता है। विन जप किए जहाँ जप, चले विन बाजा के जहाँ झंकार उठे, विन बदली के जहाँ फुहार बरसे, वह है अजपा जप।

अजपा जप भी प्रभावी है और जप के साथ किया गया ध्यान भी प्रभावी है।

चैतन्य-ध्यान में मैंने जिन चरणों को जोड़ा है उसमें पहले जप है और उसके बाद अजपा जप। जब तक हमारी 'ओम्' और सांस के साथ सहयात्रा चलती है तब तक जप चलता है। निरन्तर, वह जप गहरे से और गहरा होता जाता है। वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ति और परा। परा-मनोविज्ञान के जो चार चरण हैं, चैतन्य-ध्यान में वे चारों-के-चारों चरण हैं। पहले सहज, फिर सांस की मंदता के साथ थोड़ा गहरा, फिर

उसके ठेठ नाभि और कुंडलिनी तक पहुंचाते हुए अत्यन्त गहरा और उसके बाद जप को छोड़ देते हैं, अजपा-जप प्रारम्भ करते हैं तीव्र अन्तरमंथन के साथ। तब दिमाग से हटकर 'ओम्' निकलता है, तब नाक से सांस नहीं चलती, सिर्फ नाभि और हृदय से ही 'ओम्' का अन्तरमंथन होता है। वहाँ अजपा-जप घटित होता है।

जिनके अजपा-जप घटित हो गया, बिना मस्तिष्क के 'ओम्' रहा और बिना नाक सांस रही, उन्हीं के भीतर अनाहत नाद की अनुभूति होती है। अजपा जप के बाद का चरण ही अनाहत नाद है, ऐसा नाद जहाँ बिन बजाए ताली बजती है।

इनके प्रश्न का अगला भाग तेज श्वास से है। आपकी सांस की गति तेज हो सकती है। सांस की जैसी गति चलती है, मैं तो चाहता हूँ उसमें कभी केदार राग निकले, कभी कोई दीपराग बजे, कभी कोई भैरवी छिड़ आए। मैं नहीं चाहता आप बैठते ही तेज हो जाएं। अगर बैठते ही सांसों को तीव्र गति दे दी तो आपका ध्यान वासना के केन्द्र को स्पन्दित कर जाएगा। इसलिए मैं पहले सांस की प्रेक्षा नियंत्रण करने को कहता हूँ। सांस तो हमारे जीवन का आधार है। हमारे जीवन की पहली अभिव्यक्ति शरीर नहीं, सांस है। हम सांस को नियंत्रित करते हुए, उसे एक सुर, लय, संगीत देते हुए धीरे-धीरे विचारों के, मन के पार होते हुए अन्तस्-ध्यान में प्रवेश करते हैं। इसलिए सांस को तीव्र नहीं नियंत्रित करवाया जाता है। सांस महत्वपूर्ण नहीं है, उसे तो मात्र एक माध्यम बनाया जा रहा है, भीतर में प्रवेश करने के लिए। सांस प्रवल माध्यम है, मार्ग है अंतस्-प्रवेश का।

तीव्र श्वास-प्रश्वास कुंडलिनी-जागरण के लिए, नाभिक ऊर्जा के जागरण के लिए, जीवन की मूलभूत ऊर्जा के जागरण के लिए वेहद सहायक है। गहरे और तीव्र श्वास वास्तव में चोट है कुंडलिनी को। सोयी सर्पिणी को जगाने के लिए अंगुली का स्पर्श है। ऐसा मात्र चैतन्य-ध्यान में करवाया जाता है। सम्बोधि ध्यान चैतन्य-ध्यान से विल्कुल भिन्न स्थिति है। उसमें श्वास की तीव्रता नहीं होती, मात्र विपश्यना होती है। पहले श्वास की विपश्यना, फिर शरीरगत संवेदनाओं का अनुभव, सूक्ष्म ग्रन्थियों का विसर्जन, विकल्पों से मुक्ति और भीतर में साकार हुए शून्य में अन्तर-विहार। ऐसा क्रम है।

चेतना का विकास : श्री चन्द्रप्रभ/६९



चैतन्य-ध्यान के जो पांच चरण हैं उनमें पहले चार चरण प्रयत्न हैं, पुरुषार्थ है, चेष्टा है, तब तक ध्यान नहीं सिर्फ प्रयास है और अन्तिम पांचवां चरण ही असली ध्यान है। जहाँ न सांस पर नियंत्रण और न 'ओम्' का स्मरण, कुछ भी नहीं, जो-जैसा भीतर घटित होता है अहोभाव के साथ उसका स्वीकार है।

➤ *कुण्डलिनी जागरण के लक्षण क्या हैं, कैसे महसूस होगा कि कुण्डलिनी जाग्रत हो गई है। - रामनरेश यादव*

ध्यान एक प्रयोग है और मिस्टर यादव आप स्वयं एक प्रयोगशाला हैं। भेरे देखे धर्म का वही रूप होना चाहिए जिसका अपना प्रयोग हो। जिसमें प्रयोग नहीं, उसका मार्ग रूढ़िवाद का होगा, केवल परम्परा को निभाने का होगा। धर्म और जीवन जहाँ समवेत् होना चाहते हैं वहाँ धर्म को हमेशा प्रयोगात्मक होना चाहिए। जिन चीजों का प्रयोग होता है अनिवार्यतः उसका परिणाम भी होता है। उसके लक्षण हमें स्वयं को अनुभूत होते हैं। यदि हमारे भीतर कुण्डलिनी-जागरण होता है तो उसके लक्षण हमको दिखाई देंगे।

सर्वप्रथम तो कुण्डलिनी क्या है? यह योग-सूत्रों की, योगशास्त्रियों की दी हुई एक शब्दावली है। योग-शास्त्री कहते हैं जैसे सत्-युग घूमकर बैठा है अथवा सोया है या जागा है ठीक इसी प्रकार कुण्डलिनी भी हमारे भीतर सोई रहती है। चाहे वह महिला हो या पुरुष, योगशास्त्र क्या कहता है - पहले मैं वह बताऊंगा। मनुष्य का जो मल-मूत्र स्थान है उन दोनों के बीच कुण्डलिनी का स्थान माना जाता है। यदि कोई व्यक्ति कामोत्तेजित हो गया है तो वह खुद पर कैसे नियंत्रण करे? अपने पांच की दोनों एड़ियों को उन दोनों स्थान के बीच ले जाकर रख दो और अपने पूरे शरीर का भार उस पर रख दो। तीस सैंकड के भीतर-भीतर उसकी उत्तेजना शांत हो जाएगी क्योंकि उसकी कुण्डलिनी का स्थान दब गया, जहाँ से कामोत्तेजना उठ रही है।

अब मैं अपनी भाषा में समझाऊं। कुण्डलिनी और कुछ नहीं, यह मनुष्य का ऊर्जा-कुण्ड है। मनुष्य के शरीर में अलग-अलग स्थानों पर ऊर्जाएं रहती हैं। मस्तिष्क ऊर्जा का अलग समूह है, यहाँ अलग स्नायु हैं, अलग कोषिकाएं हैं। मनुष्य का निर्माण मस्तिष्क, हृदय या हाथ-पांवों से नहीं

वल्कि नाभि के द्वारा होता है। इसलिए वच्चे के उत्पन्न होते ही मां की नाभि से जुड़ी हुई वच्चे की नाभि को तुरंत अलग कर दिया जाता है। गर्भकाल में सभी उसी नाभि के द्वारा भोजन, वायु और अन्य आवश्यक तत्त्व ग्रहण करते हैं। पैदा होने के बाद तो हमारी पंचेन्द्रियाँ काम करने लगती हैं और नाभि का संपर्क टूट जाता है। साधना के द्वारा उसी नाभि-कमल को पुनः जाग्रत किया जाता है। नाभि कमल की तरह होती है और इसकी नली कह लें या डंडी कह लें, वह डंडी जहाँ पर इकट्टी है जिससे वह कमल खिलता है वहीं कुण्डलिनी है। मनुष्य की काम-ऊर्जा भी वहीं है। वहीं उसका कुंड है।

जब कुण्डलिनी का जागरण होता है या उस कुंड की शक्ति जाग्रत होती है, तब कोई तरल पदार्थ ऊपर नहीं चढ़ता जैसा कि योग शास्त्र कहते हैं। मेरे देखे ऐसा नहीं है। मेरे देखे तो जो तरल पदार्थ नीचे रहता है, ऊर्जा-कुंड के रूप में उसमें रहने वाली ऊर्जा, अदृश्य शक्ति-बल वह चेतना के विस्फोट के रूप में ऊपर की ओर उठता है। नीचे की चेतना ऊपर की ओर आरोहण करती है और जब ऊपर उठती है तब हमें नाभि के आसपास अजीव से स्पंदन, अद्भुत अनुभूतियाँ होती हैं और हृदय में चेतना का सघन रूप दिखाई देता है। ऐसा लगता है जैसे चेतना स्पंदित हो रही है। हम जितने ज्यादा ऊपर बढ़ते चले जाएंगे, हम स्पंदित होते चले जाएंगे। स्पन्दन और शक्ति का स्रोत अनुभव करते जाएंगे।

सामान्यतः साधक को नाभि-कमल/कुण्डलिनी/स्वाधिष्ठान पर कुछ स्पंदन महसूस हो जाते हैं लेकिन बीच के स्थानों पर स्पंदन नहीं होते, सीधे मस्तिष्क में स्पंदन होते हैं। यह शरीर का विज्ञान है कि मस्तिष्क का सीधा संबंध रीढ़ ही हड्डी से जुड़ता हुआ जहाँ रीढ़ की हड्डी खत्म होती है वहाँ ऊर्जा कुण्ड से मिल जाता है। कुण्डलिनी का भी यही स्थान है और काम-ऊर्जा का भी। काम-ऊर्जा, ऊर्जा-कुंड का एक अंग है। इसलिए जब भी काम-वासना के विचार उठते हैं हमारे शरीर के अधोभाग में स्पंदन शुरू हो जाते हैं। उत्तेजना जग जाती है। मैं यह इसलिए स्पष्ट कह रहा हूँ कि हमारे मन में कोई भ्रान्ति न रह जाए, विल्कुल वही जैसा जो मैंने जाना। हमारे नीचे के ऊर्जा-कुंड में जब स्पंदन होता है, संभव है बीच के स्थानों में कोई स्पंदन न हो और हम सीधे रीढ़ की हड्डी के माध्यम से, सुषुम्ना नाड़ी के माध्यम से मस्तिष्क में पहुंच जाते हैं और दोनों भौंहों के

चेतना का विकास : श्री चन्द्रप्रभ/६३

बीच चेतना के स्पंदन महसूस होने लग जाते हैं। मस्तिष्क की सूक्ष्म नाड़िया इससे सशक्त होती हैं, प्रज्ञा का जागरण होता है। यही कुण्डलिनी-जागरण के लक्षण हैं।

जागरण के बहुत से लक्षण हो सकते हैं। अलग-अलग लोगों के अलग-अलग अनुभव। मुझे जैसा दिखाई दिया, वैसा मैंने बताया।

➤ *कृपया अहोभाव समझाएं। - बाबूलाल जैन*

जब प्रार्थना के सारे शब्द चुक जाते हैं, जुवान जिसे कह नहीं पाती है, अगर हम आंखों के आंसुओं से भी कहना चाहें और लगता है कि नहीं कह पाए तब ऐसी स्थिति में जो अन्तरभाव जगता है उस अन्तरभाव का नाम अहोभाव है। जैसे हम घूमते हुए गोम्मटेश श्रवणवेलगोला पहुंचे। अचानक हमने देखा बाहुबली की मूर्ति को और मुख से निकला - अरे वाह! और 'वाह' को कहने के बाद आप नहीं कह सकते कि क्या विचार आ रहे हैं। एक ऐसी नीरवता, निर्विकल्पता भीतर छा जाती है कि उस 'वाह' के बाद जो भाव वनता है, उस भावदशा का नाम अहोभाव है। जहाँ सारे भाव शून्य हो जाते हैं, एकमात्र अन्तरभाव शेष रहता है वही अहोभाव है।

यह एक महान दशा है। इससे महान और कोई स्थिति नहीं होती जब व्यक्ति एक अहोमूर्ति बन जाता है, अहोभाव में डूब जाता है। मैं भी जब अपनी मस्ती में होता हूँ नहीं कहता 'धर्मलाभ' या 'आशीर्वाद' तब सिर्फ इतना ही निकलता है 'अहोभाव', 'अहोकामना', अब तुम अपने हृदय से जैसा समझ सकते हो मेरे हृदय को वैसा समझो। यह तुम पर निर्भर है, अगर तुम्हारे भीतर भी उतना ही अहोभाव है तो तुम समझ जाओगे। तुम्हारे भीतर जो अहोभाव घटित हुआ है और भीतर वह क्षमता है, वह अन्तरदृष्टि है उस अहोभाव को समझने की तो शायद तुम्हारी वाणी को मैं न समझ पाऊँ लेकिन तुम्हारे अहोभाव को जरूर समझ जाऊँगा, उसे अवश्य आत्मसात् कर जाऊँगा। वाणी से तुम कितना झुके यह व्यावहारिकता है, वह जो अन्तर की भाव-दशा है, अहोभाव है वही आपकी आत्म-दशा है। उसे शब्दों में नहीं, जी कर ही जाना जा सकता है। आप स्वयं समझ सकते हैं।

अहोभाव से भरे प्रणाम, तुम जहाँ भी होगे, जहाँ भी करोगे, मुझ तब

पहुंच जाएंगे। अहोभाव जगा यानी तुम उल्लसित हुए, तुम उत्सवित हुए, भीतर में डुबकी लगाकर बाहर आए। भावकेन्द्र की अत्यन्त निर्मल, शान्त और वीतद्वेष स्थिति है यह। अहोभाव में जीना - यह मेरा पहला संदेश है और यही आखिरी भी।

► *ध्यान का मूल उद्देश्य है समता भावी हो जाना। लेकिन जहाँ क्रोध करना जरूरी हो जाए तब ये सांसारिकता जैसे को तैसा करना सिखाती है। यह विरोधाभास एकाग्रता में बाधा डालता है? - रश्मि मालू*

ध्यान का मूल उद्देश्य समताभावी हो जाना है, परन्तु जहाँ क्रोध करना जरूरी हो जाए तब . . . . . मुझे नहीं लगता क्रोध जरूरी है। मनुष्य के जीवन में कुछ गुण प्रकृतिगत होते हैं और कुछ गुण उपार्जित किए जाते हैं। क्रोध उपार्जित गुण नहीं है, यह अपने आप आ जाता है। देश-काल-परिस्थिति के अनुसार हमारा चित्त बदलता रहता है। तब वह कभी क्रोध, कभी वासना, कभी अहंकार, कभी वैमनस्य के रूप में बदल जाता है। क्रोध-वासना प्रकृतिगत गुण हैं। यदि कोई पच्चीस वर्ष का है और कहे कि मेरे मन में तो वासना उठती ही नहीं है तो वह सफेद झूठ बोल रहा है, बुद्ध बना रहा है या उसके शरीर की प्रकृति में कुछ कमी है, खामी है। तुम बुरे वातावरण को देखोगे अनिवार्यतः क्रोध उठेगा। यह प्रकृतिगत गुण है।

सांसारिकता की परिभाषा हमेशा प्रकृति होती है। हम जितने प्रकृतिगत चलते हैं उतने ही सांसारिक और प्रकृति से जितने ऊपर उठकर जीते हैं, आध्यात्मिक होते चले जाते हैं। उतने ही हम कुछ अन्य गुण उपार्जित कर लेते हैं आध्यात्मिकता के। अगर कामोत्तेजना उठी, कोई गलत नहीं है, यह शरीर की प्रकृति है। यह शरीर के हारमोन्स का सक्रिय होना है। किसी के दिमाग में बुरे विचार आए मुझे नहीं लगता इसमें कोई दोष है। शरीर का निर्माण स्त्री और पुरुष दोनों के हारमोन्स से होता है। इसलिए जब भी पुरुष स्त्री को देखेगा और स्त्री पुरुष को देखेगी वे प्रभावित होंगे, यह प्रकृतिगत है। आध्यात्मिकता यह है कि व्यक्ति ने प्रकृति पर अपना नियंत्रण पा लिया। प्रकृति का उस पर स्वामित्व न रहा, वर्चस्व न रहा। वह प्रकृति का प्रभु हुआ। वह जैसा चाहे अपनी प्रकृति को चला सकता है। अगर वह नियंत्रण करना चाहे या वहना चाहे, तत्काल कर सकता

चेतना का विकास : श्री चन्द्रप्रभ/६५

है। जैसे - एक महिला को या पुरुष को देखा मन में विचार उठे वह सुन्दर है और भी अन्य बातें दिमाग में आई, शरीर आन्दोलित हुआ। लेकिन तत्काल हम अपनी आध्यात्मिकता लाते हैं और उस पर नियंत्रण करते हैं - यह मैं क्या सोच रहा हूँ यह तो मेरी माता-बहिन के बराबर है, यह तो मेरे पिता-भाई के बराबर है और आप देखेंगे दस सेकेंड भी नहीं लगेंगे प्रकृति पर आपका नियंत्रण होते, प्रकृति शांत हो जाएगी। यह आपकी आध्यात्मिकता हुई। भौतिक ऊर्जा पर आध्यात्मिक ऊर्जा की विजय हुई।

पंच कल्याणक पूजा या महोत्सव कोई आध्यात्मिकता नहीं है। आध्यात्मिकता तो वह है जब आपके भीतर नर उठा और आपने नारायण को प्रतिष्ठित किया। जितनी देर तक ये भाव रहे उतनी देर के लिए आप भी नारायण हो गए। ऐसे ही प्रकृति जब उभार लाती है व्यक्ति के मन में क्रोध उठेगा। जैसे को तैसा वाली नीति सांसारिक लोगों की होती है। उन लोगों की होती है जो खुद दुर्बल होते हैं। तुम्हारा पिता तुम पर क्रोध कर सकता है, लेकिन तुम पिता पर क्रोध नहीं कर सकते। क्योंकि पिता खुद को बलवान समझ रहा है, आप क्रोध नहीं कर पा रहे यह आपका विवेक है। नौकर है उसे आपने डाँटा, प्यार से भी डाँटा जा सकता है, जब प्यार से डांटते हैं तो उस डांट में भी बड़ा आनन्द आता है। आदमी कभी प्यार से नहीं डांटता हमेशा गाली से ही डांटता है।

क्रोध करना बिल्कुल जरूरी नहीं है। संकेत में भी कोई बात कही जा सकती है और क्रोध करके तो आज तक कोई किसी को समझा नहीं पाया। आप अपने क्रोध को भी संकेत के माध्यम से समझा दो शायद और अधिक गहराई तक पहुँच जाओगे। जब आपको क्रोध आता है और लगता है कि जैसे को तैसा वाली नीति देनी है 'कम-से-कम' शब्दों में अपनी अभिव्यक्ति करो। जैसे टेलीग्राम करते हैं, उसमें आप नपे-तुले शब्दों का प्रयोग करते हैं उसी तरह क्रोध करो। जब क्रोध करना ही है तो मैं कहूँगा टेलीग्राम और टेलीग्राफ की तरह करो - चार शब्दों में। आपने क्रोध पर नियंत्रण कर लिया और अपनी बात भी कह दी। एक घंटा चिल्लाते तो उस पर कोई असर नहीं होता। चार शब्द कहे हैं उसने उसका रातभर सोना मुश्किल कर दिया। वह सो नहीं पाएगा, दिन में रह नहीं पाएगा। वे चार शब्द वार-वार गूँजेंगे।

जैसे को तैसा देने के लिए तो बहुत दुनिया है। तुम 'जैसे को तैसा' देने के लिए नहीं हो। तुम जो हो, वही हो। तुमने अगर जैसे को तैसा दे दिया तो इसमें तुम्हारी क्या समझदारी रही। तुम क्या हो, अपनी ओर से वह दो। जैसा वह है उसे वैसा ही दे दिया तो तुम, तुम नहीं, जैसा वह है वैसा ही तुम। जितना बुद्धू वह है उतने ही बुद्धू तुम। जो जैसा है उसे तुमने बड़ी समझदारी के साथ, जागरूकता और विवेक से जवाब दिया, वह जैसा रहे या बदल जाए, लेकिन तुम्हारे भीतर जरूर ऊर्ध्वारोहण होगा, पवित्रता आएगी। किसी के क्रोध से तुम्हारे चेहरे पर मुस्कान उभर आए तो उसका क्रोध तुम्हारे लिए मंदिर की सीढ़ी के बराबर होगा और क्रोध से तुम्हें भी क्रोध आ जाए तो वह तुम्हारे लिए नरक की पहली सीढ़ी के बराबर होगा। वह नरक मरने के बाद नहीं, तुरंत मिलेगा। क्रोध से तुम जलोगे, तड़पोगे और आग-बवूला हो उठोगे। तुम्हें पता है, जब तुम एक बार क्रोध करते हो तो चौबीस घंटे में एकत्रित की गई ऊर्जा खत्म हो जाती है।

मुझे डॉक्टर ने कहा दोनों समय भोजन करिए। मैंने कहा एक समय ही काफी है। उसने पूछा कितनी रोटी खाते हैं, मैंने कहा - दो। उसने कहा और अधिक खाया कीजिये। पर मेरे लिए तो दो ही पर्याप्त है। सुबह जब ध्यान के लिए बैठे तब कुछ भूख महसूस हुई पर जब ध्यान करके उठे तो पेट इतना भर गया, मन परितृप्ति से इतना सराबोर हो गया कि मानो खूब भोजन किया हो। जब भूख ही नहीं है, पेट ही भर गया तो भोजन क्या किया जाए। जब लगेगा कि उसकी तरंग कम हो गई है, भोजन कर लेंगे। भरेंगे इस पेट को। आप जो कहते हैं न कुंडलिनी-जागरण, जब वह ऊपर उठती है हमें भर देती है, ताजगी दे देती है कि हमें खाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वैसे यह अलग स्टेज (स्थिति) की बात है।

मेरे प्रभु! क्रोध आता है, स्वाभाविक है लेकिन हम सिर्फ एक ही बात सीखें कि क्रोध को जितनी मिठास, प्रेम, अहोभाव के साथ प्रगट कर सकें तो शायद जैसे को तैसा तो दिया जा सकेगा लेकिन फिर वह तैसा नहीं होगा हमारे जैसा होगा।

► *क्या गुरुजनों के प्रवचन के पश्चात ताली बजाना उचित है? मेरे विचार से अमृत-वचनों को सुनकर जीवन में उतारा जाता है। ताली तो मंत्री के*

चेतना का विकास : श्री चन्द्रप्रभ/६७

*भाषण के पश्चात् बजाई जाती है। वैसे भी ताली बजाने से जीव-हिंसा होती है। - रजनी बाफना*

मैं किस प्रश्न का जवाब दूँ - गुरुजनों के प्रवचन के बाद ताली बजाना उचित नहीं है या ताली बजाना ही उचित नहीं है। क्योंकि जीव-हिंसा तो ताली बजाने से होती है। गुरु के प्रवचन के पश्चात् बजाने से होती है, इसका तो कोई संबंध ही नहीं है। हिंसा तो होगी ही, चाहे राजनेता को सुनकर बजाओ या चन्द्रप्रभ को सुनकर बजाओ। एक बात और है राजनेताओं के भाषण के बाद ताली बजवाई जाती है, और गुरु को सुनने के बाद ताली बजती है। जो बजवाई जाती है उसमें नेता लोग आते हैं, मुख्य वक्ता बोलता है और चार नेता जो पास में बैठे होते हैं, उसके अच्छी बात बोलने पर ताली बजा देते हैं, बाकी भीड़ भी उन्हें देखकर ताली बजा देती है। वे चार सहायक नेता आते ही इसीलिए हैं कि ताली बजवाई जा सके।

जब गुरु बोलता है और कोई ताली बजाता है तो वह ताली बजती है, बजवाई नहीं जाती। वह कही नहीं जाती। कोई एक बार नहीं हजार बार कह दे, तब भी ताली नहीं उठेगी। ताली बजवाई जाए तो उसमें जीव-हिंसा होगी और ताली बज जाए तो वह पुण्य-कृत्य हो जाएगा। वह सहजता, वह बात जो ठेठ दिल में पहुँच गई और तुमने ताली बजा दी, वह ताली बज गई, उसे किसी ने बजवाया नहीं। उस समय ताली सिर्फ हाथों से नहीं हृदय से बजती है। भीतर तो इतनी गड़गड़ाहट होती है कि बाहर तो सिर्फ दो-चार बार हाथ पीटकर रह जाते हो, भीतर की ताली तो दिनभर चलती रहती है। भीतर जो झंकार होती है वह दिनभर झंकार रहती है, तुम्हें झंकार कर देती है, आंदोलित और प्रभावित कर देती है। जब तालाब में कंकर फेंकते हैं तो एक ही तरंग उठनी चाहिए? नहीं, जहाँ कंकर गिरता है वहाँ से इतनी तरंगे उठतीं हैं कि पूरे तालाब को आंदोलित कर देती हैं। इतना ही नहीं कि किनारों से टकराकर खत्म हो जाए। किनारों से टकराएगी और पुनः उतनी ही तेजी से वापस लौटेगी। इसलिए मेरे प्रभु, जीवन में आप हिंसा और अहिंसा के प्रति इतने सावचेत हो, यह अच्छी बात है। मैं तो हिंसा और अहिंसा का इतना ही अर्थ लगाता हूँ कि वह व्यक्ति अहिंसक है जिसकी अन्तरवृत्तियों से, विध्वंस की, विस्फोट की, हिंसा की वृत्तियाँ समाप्त हो चुकी हैं और वह हिंसक

है जो भीतर ही भीतर दूसरों का विध्वंस करता रहता है। अपनी विध्वंसक शक्तियों को सृजन में लगा दो तो तुम अहिंसक हो और अहिंसक होकर भीतर से ताली उमड़ती है तो वह पाप नहीं, हिंसा नहीं, एक पुण्य-कृत्य है।

भीतर से, जो भी घटित होता है उस घटना को घटने देने से रोकना व्यक्ति के लिए आत्म-दमन ही है। अगर ताली भीतर से न उमड़ी हो केवल प्रचलनवश बजा दी गयी हो तो उस ताली को बजाने का कोई अर्थ ही नहीं है। ऐसी तालियाँ तो प्रमत्त और मूर्च्छित दशा में बजायी जाती हैं। एक ताली वह होती है जिसे हम प्रेम की ताली कहेंगे, भक्ति की ताली कहेंगे, अहोभाव और प्रमुदितता से निपजी ताली कहेंगे। कल शाम अगर कुछ लोगों ने तालियाँ बजायी तो यह वैसी ताली नहीं थी जो किसी वक्ता के बोलने पर बजायी जाती हो, समारोह का उद्घाटन या दीप-प्रज्वलन करते वक्त बजायी जाती हो। वह ताली तो तुम्हारी चेतना से निपजी थी, अभिभूत होने से निपजी थी, आनन्दित होने के कारण निपजी थी। जिस क्षण तुम अभिभूत हुए इस समय अपनी अभिभूतता को प्रकट करने के लिए सिवा ताली के तुम्हारे पास कोई साधन नहीं होगा। वह ताली तो तुम्हारे लिए सूरदास का करताल थी। ताली की बजाय अगर तुम्हारे पास ढोलक होती, नगाड़े होते तो तुम उनको भी बजा बैठते।

रजनी! आप अपनी जगह सही हैं कि अमृत वचनों को सुनकर जीवन में उतारा जाता है। यहां जो कुछ भी होता है वह जीवन में उतरने का ही प्रतीक है। अगर मीरा के हृदय में कृष्ण उतर गये और मीरा के पाँव के घुंघरु थिरकने लग गये तो इसमें कोई प्रश्न वाचक बात नहीं है। 'पग घुंघरु बांध मीरा नाची रे।' यह तो जो रस मिला उस रसमयता का उत्सव भर है। कुछ धन्यवाद और अहोभाव ऐसे होते हैं। जिन्हें वाणी से नहीं करताल से प्रकट किया जाता है, घुंघरुओं से जिसे व्यक्त किया जाता है।

बूंद-बूंद अमृत टपक रहा है। अमृत की फुहारें गिर रही हैं। इस बूंद-बूंद को अपने कंठ से नीचे उतरने दो, अपने हृदय में उतर लेने दो तब अपनी अलमस्ती में भीतर से जो कुछ उमड़ आये वह हमारे होने का प्रमाण होगा, चेतना का आनन्द होगा।

अन्त में, सबके भीतर विराजमान प्रभु को मेरे प्रणाम हैं, स्वीकार कीजिये।

चेतना का विकास : श्री चन्द्रप्रभ/६६



## चैतन्य-ध्यान

सवरे प्रसन्न हृदय के साथ चैतन्य-ध्यान में प्रवेश कीजिये। कई लोग साथ मिलकर ध्यान करें तो और बेहतर।

**प्रथम चरण :** ॐ का सात बार उद्घोष एवं सात बार अन्तर्-अनुगूंज कीजिये। प्रत्येक उद्घोष एवं अनुगूंज के बीच तीन बार सहज सांस लीजिये।

**द्वितीय चरण :** प्रसन्न आत्मा से सहज सांस के साथ ॐ का सहज स्मरण/जाप कीजिये।

**तृतीय चरण :** ॐ की सहयात्रा। पहले मंद-मंद सांस के साथ, पश्चात् गहरी सांस के साथ ॐ का गहरा स्मरण कीजिये।

**चतुर्थ चरण :** तेज सांस के साथ ॐ का गहरा अन्तर-मंथन कीजिये, तब तक, जब तक थक न जाएं।

**पंचम चरण :** अन्तश्चेतना में अनाहद की अनुभूति कीजिये और डूब जाइये अहोभाव में, यानी स्वयं की सहजता में निमग्नता।

## सम्बोधि-ध्यान

शाम को प्रसन्न हृदय के साथ सम्बोधि-ध्यान में प्रवेश कीजिये। पहले खुलकर मुस्कुराइये, ताकि मानसिक तनाव और बोझ हल्का हो जाए।

**प्रथम चरण :** दृष्टि को नासाग्र पर केन्द्रित कीजिये और अपने आभामंडल को पहचानिये।

**द्वितीय चरण :** श्वास पर ध्यान केन्द्रित कीजिये। स्वयं को सबसे अलग करते हुए तटस्थ भाव से अपनी वृत्तियों की प्रेक्षा/विपश्यना कीजिये और उनसे मुक्त हो जाइये।

**तृतीय चरण :** नाभि पर ध्यान केन्द्रित कीजिये। शरीर के अधोभाग में प्राणों का धीरे-धीरे संचार कीजिये और पुनः नाभि पर आइये।

**चतुर्थ चरण :** गहरे श्वास-प्रश्वास के द्वारा ऊर्जाकुंड/ कुंडलिनी को जगाइये और नाभि, हृदय, कंठ के क्रमिक स्पर्श का अहसास करते हुए मस्तिष्क के अग्रभाग पर ऊर्जा का समीकरण कीजिये।

**पंचम चरण :** शरीर को शिथिल छोड़ते हुए स्वयं में अन्तर्लीन हो जाइये। आनंद एवं अहोभाव में डूब जाइये।

## जितयशा फाउंडेशन का उपलब्ध साहित्य (मात्र लागत मूल्य पर)

फाउंडेशन का साहित्य सदाचार एवं सद्दिचार का प्रवर्तन करता है। इस परिपत्र में जोड़ा गया साहित्य अलौकिक है, जीवन्त है। इस जीवन्त साहित्य को आप स्वयं संग्रहीत कर सकते हैं, मित्रों को उपहार के रूप में दे सकते हैं। इन अनमोल पुस्तकों के प्रचार/प्रसार के लिए आप सस्नेह आमंत्रित हैं।

### ध्यान/अध्यात्म/चिन्तन

**अप्प दीवो भव :** महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

श्री चन्द्रप्रभ के अनमोल वचनों का संकलन; जीवन, जगत् और अध्यात्म के विभिन्न आयामों को उजागर करता चिन्तन-कोष। पृष्ठ ११२, मूल्य १५/-

**चलें, मन के पार :** महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

विश्व-स्तर पर प्रशंसित ग्रन्थ, जिसमें दर्शाये गये हैं मनुष्य के अन्तर्-जगत् के परिदृश्य; सक्रिय एवं तनाव-रहित जीवन प्रशस्त करने वाला एक मनोवैज्ञानिक युगीन ग्रन्थ। पृष्ठ ३००, मूल्य ३०/-

**व्यक्तित्व-विकास :** महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

हमारा व्यक्तित्व ही हमारी पहचान है, तथ्य को उजागर करने वाली पुस्तक, जो बचपन से पचपन की हर उम्र वालों के लिए उपयोगी। एक बाल-मनोवैज्ञानिक प्रकाशन। पृष्ठ ११२, मूल्य १०/-

**संसार और समाधि :** महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

संसार पर इतना खूबसूरत प्रस्तुतीकरण पहली बार। यह किताब बताती है कि संसार में रहना बुरा नहीं है। अपने दिल में संसार को बसा लेना वैसा ही अहितकर है, जैसे कमल पर कीचड़ का चढ़ना। पृष्ठ १६८, मूल्य १५/-

**संभावनाओं से साक्षात्कार :** महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

अस्तित्व की अनंत संभावनाओं से सीधा संवाद। पृष्ठ ६२, मूल्य १०/-

**ज्योति जले बिन बाती :** महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

ध्यान-साधकों के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तक, जिसमें है ध्यान-योग की हर बारीकी का मनोवैज्ञानिक दिग्दर्शन। पृष्ठ १०८, मूल्य १०/-

**ध्यान की जीवन्त प्रक्रिया :** विजयलक्ष्मी

ध्यान जैसे गूढ़ विषय का सहज-सरल प्रस्तुतिकरण; ध्यान की सरल प्रक्रिया जानने के लिए एक बेहतर पुस्तक। पृष्ठ १२०, मूल्य १०/-

**जीवन-यात्रा** : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

सुप्रसिद्ध प्रवचनकार श्री चन्द्रप्रभ के मानक प्रवचनों का अनोखा संकलन। जीवन के हर क्षितिज में कदम-कदम पर राह दिखाने वाला यात्रा-स्तम्भ। मौलिक जगत् में जीने वालों के लिए विशेष उपयोगी।

पृष्ठ ३८६, मूल्य ५०/-

**प्रेम के वश में है भगवान** : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर

एक प्यारी पुस्तक, जिसे पढ़े बिना मनुष्य का प्रेम अधूरा है।

पृष्ठ ४८, मूल्य ३/-

**जित देखूं तित तूं** : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

अस्तित्व के प्रत्येक अणु में परमात्मा-शक्ति को दिखाने का श्लाघनीय प्रयत्न।

पृष्ठ ३२, मूल्य २/-

**चलें, बन्धन के पार** : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

बन्धन-मुक्ति के लिए क्रान्तिकारी सन्देश। प्रवचनों में है बन्धन की पहचान और मुक्ति का निदान।

पृष्ठ ३२, मूल्य २/-

**वही कहता हूँ** : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर

अध्यात्म के उपदेष्टा ललितप्रभजी के दैनिक समाचार-पत्रों में प्रकाशित स्तरीय प्रवचनांशों का संकलन, लोकोपयोगी प्रकाशन।

पृष्ठ ४८, मूल्य ३/-

**शिवोऽहम्** : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

ध्यान की ऊँचाइयों को आत्मसात् करने के लिए एक तनाव-मुक्त स्वस्थ मार्गदर्शन। जीवन-कल्प के लिए एक बेहतरीन पुस्तक।

पृष्ठ १००, मूल्य १०/-

**विराट सच की खोज में** : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर

सत्य की अनन्त संभावनाओं को दर्शाने वाला एक ज्योतिर्मय चिंतन।

पृष्ठ ६४, मूल्य ६/-

**आत्म-दर्शन** : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

समस्त साधकों की साधना का सार है आत्म-दर्शन। अखिल भारतीय विद्वत् परिषद की प्रशस्त प्रकाशन-प्रस्तुति।

पृष्ठ ४०, मूल्य २/-

**तुम मुक्त हो, अतिमुक्त** : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर

समस्त विश्व के लिए नवसृजन का आह्वान। आत्म-क्रान्ति के अमृतसूत्र।

पृष्ठ १००, मूल्य ७/-

**रोम-रोम रस पीजे** : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर

जीवन के हर कदम पर मार्ग दर्शाते चिन्तन-सूत्रों का बेहतरीन दस्तावेज। थोड़े शब्द, अनमोल विचार।

पृष्ठ ८८, मूल्य १०/-

**ध्यान : क्यों और कैसे** : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

हमारे सामाजिक जीवन में ध्यान की क्या जरूरत है, ध्यान का तरीका क्या हो सकता है, इस सम्बन्ध में सीधी और स्वच्छ राह दिखाती एक शालीन पुस्तक।

पृष्ठ ८६, मूल्य १०/-

- प्रेम और शांति** : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर  
मन की शान्ति एवं सुख की उपलब्धि के लिए एक प्रज्ञा-मनीषी द्वारा मार्गदर्शन।  
कम पन्नों में ज्यादा सामग्री। पृष्ठ ३२, मूल्य २/-
- महक उठे जीवन-बदरीवन** : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर  
व्यक्तित्व के निर्माण एवं समाज के विकास के लिए बुनियादी बातों का खुलासा।  
पढ़िये, जीवन को चमन करने के लिए। पृष्ठ ३२, मूल्य २/-
- तीर्थ और मन्दिर** : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर  
तीर्थ और मंदिर केवल श्रद्धास्थल हैं या और भी कुछ? जानकारी के लिए पढ़िये  
यही पुस्तक। पृष्ठ ३२, मूल्य २/-
- अमृत-संदेश** : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर  
सद्गुरु श्री चन्द्रप्रभ के अमृत-संदेशों का सार-संकलन। पृष्ठ ५६, मूल्य ३/-
- प्याले में तूफान** : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर  
इन्सानियत एवं समाज में आई कमियों की ओर इशारा, आम आदमी से लेकर  
सम्पूर्ण विश्व के दिल में भड़कते तूफान का बेवाक आकलन; सभी लेख स्त्रीय  
और अनिवार्यतः पठनीय। पृष्ठ ६०, मूल्य १०/-
- पर्युषण-प्रवचन** : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर  
पर्युषण-महापर्व के प्रवचनों को घर-घर पहुँचाने के लिए एक प्यारा प्रकाशन; भाषा  
सरल, प्रस्तुति मनोवैज्ञानिक। पढ़ें कल्पसूत्र को अपनी भाषा में।  
पृष्ठ १२०, मूल्य १०/-
- ध्यान : प्रयोग और परिणाम** : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर  
ध्यान के विभिन्न पहलुओं पर जीवन्त विवेचन। भगवान महावीर की निजी  
साधना-पद्धति का स्पष्टीकरण। पृष्ठ ११२, मूल्य १०/-
- लाईट-टू-लाईट** : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर  
ध्यान में अभिरुचिशील लोगों के लिए 'माइल-स्टोन'। विश्व के दूर-दराज तक  
फैली ध्यान-पुस्तिका। पृष्ठ ६२, मूल्य १०/-
- द प्रिजर्विंग ऑफ लाइफ** : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर  
मानव-चेतना के विकास के हर संभव पहलू पर प्रकाश। पृष्ठ १००, मूल्य १०/-

## आगम/शोध/कोश

- आयार-सुत्तं** : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर  
एक आदर्श धर्म-ग्रन्थ का मूल एवं हिन्दी - अनुवाद के साथ अभिनव प्रकाशन,  
शुद्ध मूलानुगामी अनुवाद। छात्रों के लिए विशेष उपयोगी। ग्रन्थ का फैलाव  
सीमित, किन्तु प्रस्तुतीकरण सर्वोच्च। विज्ञान एवं चिन्तन के क्षेत्र में एक खोज।  
पृष्ठ २६०, मूल्य ३०/-

**समवाय-सुत्त** : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

विश्वविद्यालय-पाठ्यक्रम के स्तर पर तैयार किया गया जैन-आगम समवायांग का सीधा-सपाट मूलानुगामी अनुवाद ।

पृष्ठ ३१८, मूल्य ३०/-

**खरतरगच्छ का आदिकालीन इतिहास** : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

जैन धर्म की क्रांतिकारी परंपरा का दस्तावेज; खरतरगच्छ द्वारा विचार-शुद्धि एवं आतार-शुद्धि के लिए की गई पहल का ऐतिहासिक विवरण । खरतरगच्छ महासंघ, दिल्ली का पठनीय प्रकाशन ।

पृष्ठ २६०, मूल्य ३०/-

**चन्द्रप्रभ : जीवन और साहित्य** : डॉ. नागेन्द्र

महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर जी की साहित्यिक सेवाओं का विस्तृत लेखा-जोखा । एक समीक्षात्मक अध्ययन ।

पृष्ठ १६०, मूल्य १५/-

**उपाध्याय देवचन्द्र : जीवन, साहित्य और विचार** : महो. ललितप्रभ सागर

महान् तत्त्वविद् उपाध्याय श्रीमद् देवचन्द्र के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के विभिन्न पहलुओं पर प्रशस्त प्रकाश डालने वाला एक शोधप्रबन्ध ।

पृष्ठ ३२०, मूल्य ५०/-

**हिन्दी सूक्ति-सन्दर्भ कोश** : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

हिन्दी के सुविस्तृत साहित्य से सूक्तियों का ससन्दर्भ संकलन; भारतीय सन्तों एवं मनीषियों के चिन्तन एवं वक्तव्यों का सारगर्भित सम्पादन; आम पाठकों के अलावा लेखकों के लिए खास कारगर; एक आवश्यकता की वैज्ञानिक आपूर्ति । दो भागों में ।

पृष्ठ ७५०, मूल्य १००/-

**पंच संदेश** : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर

पुस्तक में है अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पर कालजयी सूक्तियों का अनूठा सम्पादन ।

पृष्ठ ३२, मूल्य २/-

## सन्त-वाणी

**महाजीवन की खोज** : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

आचार्य कुन्दकुन्द, योगीराज आनंदघन एवं श्रीमद् राजचन्द्र जैसे अमृत-पुरुषों के चुने हुए अध्यात्म-पदों पर बेबाक खुलासा । घर-घर पठनीय प्रवचन-संग्रह । हर मुमुक्षु एवं साधक के लिए उपयोगी ।

पृष्ठ १४८, मूल्य १०/-

**बूझो नाम हमारा** : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर

योगीराज आनंदघन के पदों पर किया गया मनोवैज्ञानिक विवेचन, जो पाठक को उसके मौलिक व्यक्तित्व से परिचय करवाता है ।

पृष्ठ ६८, मूल्य ४/-

**देह में देहातीत** : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

प्रसिद्ध अध्यात्मवेत्ता आचार्य कुन्दकुन्द की टेढ़ी गाथाओं पर सीधा संवाद । विशिष्ट प्रवचन ।

पृष्ठ ७२, मूल्य ५/-

**भगवत्ता फैली सब ओर :** महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर  
आचार्य कुन्दकुन्द के अष्टपाहुड़ ग्रन्थ से ली गई आठ गाथाओं पर बड़ी मार्मिक  
उद्भावना। इसे तन्मयतापूर्वक पढ़ने से जीवन-क्रांति और चैतन्य-आरोहण बहुत  
कुछ सम्भव। पृष्ठ १००, मूल्य १०/-

**सहज मिले अविनाशी :** महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर  
पतंजलि के प्रमुख योग-सूत्रों पर पुनर्प्रकाश; योग की एक अनूठी पुस्तक।  
पृष्ठ ६२, मूल्य १०/-

**बिना नयन की बात :** महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर  
अध्यात्म-पुरुष श्रीमद् राजचन्द्र के प्रमुख पदों पर मानक प्रवचन। कठिन विषय  
का सरलतम प्रस्तुतीकरण। पृष्ठ १००, मूल्य १०/-

**अंतर के पट खोल :** महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर  
पतंजलि के दस सूत्रों पर पुनर्प्रकाश; योग की अनूठी पुस्तक।  
पृष्ठ ११२, मूल्य ७/-

**हंसा तो मोती चुगै :** महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर  
भगवान महावीर के कुछ अध्यात्म-सूत्रों पर सामयिक प्रवचन।  
पृष्ठ ८८, मूल्य १०/-

**ज्योति कलश छलके :** महोपाध्याय ललितप्रभ सागर  
जीवन-मूल्यों को ऊपर उठाने वाली, एक श्रेष्ठ पुस्तक जिसमें नैतिकता की चर्चा  
है, धार्मिकता की चेतना है और है साथ में अध्यात्म का अमृत पुट। भगवान्  
महावीर के सूत्रों पर विस्तृत चिन्तन। पृष्ठ १६०, मूल्य २०/-

## कथा-कहानी

**सिलसिला :** महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर  
कहानी-जगत की अनेक आजाद वारदातें, पशोपेश में पड़े इंसान के विकल्प को  
तलाशती दास्तान। बालमन, युवापीढ़ी, प्रौढ़ बुजुर्गों के अन्तर्न को समान रूप  
से छूने वाली कहानियों का संकलन। पृष्ठ ११०, मूल्य १०/-

**संसार में समाधि :** महोपाध्याय ललितप्रभ सागर  
समाधि के फूल संसार में कैसे खिल सकते हैं, सच्चे घटनाक्रमों के द्वारा उसी का  
सहज विन्यास। हर कौम के लिए शान्ति और समाधि का संदेश।  
पृष्ठ १२०, मूल्य १०/-

**लोकप्रिय कहानियाँ :** महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर  
जैन संस्कृति को उजागर करने वाली सुप्रसिद्ध कथा-कहानियों का सार-संक्षेप।  
सहज भाषा में जैनत्व की धड़कन। पृष्ठ ४८, मूल्य ३/-

**संत हरिकेशबल :** महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर  
अस्पृश्यता-निवारण के लिए बोलती एक रंगीन कहानी। बच्चों के लिए सौ फीसदी  
उपयोगी। पृष्ठ २४, मूल्य ४/-

**दादा दत्त गुरु :** महोपाध्याय ललितप्रभ सागर  
पहले दादा गुरुदेव आचार्य जिनदत्तसूरि की सर्वप्रथम प्रकाशित चित्र-कथा;  
ज्ञानवर्धक, रोचक भी। पृष्ठ २४, मूल्य ४/-

**सत्य, सौन्दर्य और हम :** महोपाध्याय ललितप्रभ सागर  
सुन्दर, सरल प्रसंग, जिनमें सच्चाई भी है और युग की पहचान भी।  
पृष्ठ ३२, मूल्य २/-

**घट-घट दीप जले :** महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर  
राष्ट्रीय पत्रिकाओं में प्रकाशित चन्द्रप्रभजी की उन कहानियों का संकलन, जिनमें  
जीवन-दीप की आत्मा हर शब्द में फैल रही है। पृष्ठ ३२, मूल्य २/-

**कुछ कलियाँ, कुछ फूल :** महोपाध्याय ललितप्रभ सागर  
संसार के विभिन्न कोनों में हुए सद्गुरुओं की उन घटनाओं का लेखन, जिनमें छिपे  
हैं जीवन-क्रान्ति और विश्व-शान्ति के सन्देश। पृष्ठ ३२, मूल्य २/-

## काव्य-कविता

**बिम्ब-प्रतिबिम्ब :** महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर  
जीवन की उधेड़बुन को प्रस्तुत करने वाली एक सशक्त प्रौढ़ काव्य-कृति। सत्य  
के संगान का अभिनव प्रयत्न। पृष्ठ ८४, मूल्य ७/-

**छायातप :** महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर  
अदृश्य प्रियतम की कल्पना की रंगीन बारीकियों का मनोज्ञ चित्रण। रहस्यमयी  
छायावादी कविताओं का एक और अभिनव प्रस्तुतिकरण।  
पृष्ठ १०८, मूल्य १०/-

**जिन-शासन :** महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर  
एक अनूठी काव्यकृति, जिसमें है सम्पूर्ण जैन शासन का मार्ग-दर्शन। काव्य-शैली  
में जैनत्व को समग्रता से प्रस्तुत करने वाला एक मात्र सम्पूर्ण प्रयास।  
पृष्ठ ८०, मूल्य ३/-

**अधर में लटका अध्यात्म :** महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर  
दिल की गहराइयों को छू जाने वाली एक विशिष्ट काव्यकृति। पढ़िए, मस्तिष्क  
के परिमार्जन एवं जीवन के सम्यक् संस्कार के लिए। पृष्ठ १५२, मूल्य ७/-

## गीत-भजन-स्तोत्र

**प्रार्थना :** महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

चौबीस तीर्थकरों की भक्ति-वन्दना; नई लयों में रस/भावों की अभिव्यक्ति। प्रत्येक तीर्थकर के नाम स्वतंत्र प्रार्थना और भजन। पृष्ठ ११२, मूल्य १५/-

**महान् जैन स्तोत्र :** महोपाध्याय ललितप्रभ सागर

अत्यन्त प्रभावशाली एवं चमत्कारी जैन स्तोत्रों का विशाल संग्रह।

पृष्ठ १२०, मूल्य १०/-

**दादा गुरुदेव के भजन :** महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

दादा गुरुदेवों की भक्ति, स्तुति में रचे गाये गए, नवीनतम भजनों का संग्रह।

पृष्ठ ३२, मूल्य २/-

**श्रद्धांजलि :** महोपाध्याय ललितप्रभ सागर

भजनों और गीतों का सम्पूर्ण संग्रह। प्रभात-वन्दना एवं भजन-संध्या में नित्य उपयोगी।

पृष्ठ ३२, मूल्य २/-

**जैन भजन :** महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

लोकप्रिय तर्जों पर निर्मित भावपूर्ण गीत-भजन। छोटी, किन्तु प्यारी पुस्तक।

पृष्ठ ६४, मूल्य ३/-



रजिस्ट्री चार्ज एक पुस्तक पर ८/-, सौ रुपये से अधिक साहित्य मंगाने पर डाक-व्यय से मुक्त। धनराशि श्री जितयशाश्री फाउंडेशन (SRI JIT-YASHA SHREE FOUNDATION) कलकत्ता के नाम पर बैंक-ड्राफ्ट या मनीआर्डर द्वारा भेजें। आज ही लिखें और अपना आर्डर भेजें।

**सम्पर्क - सूत्र :**

श्री जितयशाश्री फाउंडेशन

६ सी, एस्प्लानेड रो ईस्ट (रूम नं. २८) कलकत्ता - ७०० ०६६

दूरभाष : २०-८७२५/३५०-०४१४



# श्री जितयशा फाउंडेशन द्वारा साहित्य-विस्तार की अभिनव योजना

## अपने घर में अपना पुस्तकालय

श्री जितयशा फाउंडेशन, लाभ-निरपेक्ष एवं विश्व-श्रेय के लिए समर्पित संस्थान है। साहित्य-विस्तार एवं कला-प्रस्तुति के क्षेत्र में इसके अपने कीर्तिमान हैं। सदाचार एवं सद्-विचार की गंगा-यमुना को घर-घर ले जाने के लिए यह संस्थान निरन्तर प्रयत्नशील है। जैन-धर्म के उन सिद्धान्तों एवं आदर्शों को घर-घर पहुँचाना हमारा उद्देश्य है, जिनकी जरूरत हर समय, हर व्यक्ति और हर समाज को रही है। फाउंडेशन के विविध विषयों से जुड़े साहित्य को भारत के प्रमुख पत्रों एवं विद्वानों ने सराहा है और उसकी सेवाओं को अनिवार्य भी माना है।

फाउंडेशन द्वारा प्रसारित साहित्य युग-युग की सम्पदा है और आधुनिक चिन्तन-जगत् की बेहतरीन प्रस्तुति। आम आदमी से लेकर विद्यार्थियों और प्रबुद्ध लोगों की ज्ञान-क्षेत्र की हर जिज्ञासा का समाधान देने में यह साहित्य लाजवाब है।

अपना पुस्तकालय अपने घर में बनाने के लिए फाउंडेशन ने एक अभिनव योजना बनाई है। इसके अन्तर्गत आपको सिर्फ एक बार ही फाउंडेशन को एक हजार रुपये का अनुदान देना होगा, जिसके बदले में फाउंडेशन अपने यहाँ से प्रकाशित होने वाले प्रत्येक साहित्य को आपके पास आपके घर पहुँचायेगा और वह भी आजीवन। इस योजना के तहत एक और विशेष सुविधा आपको दी जा रही है कि इस योजना के सदस्य बनते ही आपको रजिस्टर्ड डाक से अब तक का प्रकाशित सम्पूर्ण साहित्य निःशुल्क प्राप्त होगा।

लीजिए! आप हमारी इस साहित्य-योजना के आजीवन सदस्य बनकर अपने घर में अपना पुस्तकालय बनाइये और व्यावहारिक जीवन की बातों से लेकर ध्यान, साधना, यमाधि, चिन्तन, प्रवचन, कहानी, आगम, इतिहास एवं दर्शन-क्षेत्र की अनमोल पुस्तकें अपने घर में वसाइये।

श्री जितयशा फाउंडेशन ६-सी, एस्लानेड रो (ईस्ट), कलकत्ता ७०००६६

# चेतना का विकास

